

प्रोफेसर रामदरश मिश्र

(सरस्वती सम्मान से सम्मानित व्यक्तित्व)
(संरक्षक)

INTERNATIONAL PEER- REVIEWED(REFEREED) JOURNAL

RNI (UPHIN/2021/80567)

साहित्य मेघ

ISSN: 2583 - 5750

(साहित्यिक हिंदी मासिक)

प्रकाशन का आरंभिक वर्ष/माह : अप्रैल २०२१

सम्पादक मण्डल

भारत

प्रोफेसर ओमप्रकाश सिंह
opsingh@mail.jnu.ac.in
विभागाध्यक्ष भारतीय भाषा केन्द्र,
जे.एन.यू. नई दिल्ली
M:(९८९९४४६८६९)

प्रोफेसर चन्द्रदेव यादव
cyadav@jmi.ac.in
विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,जामिया मिल्लिया
इस्लामिया,नई दिल्ली
M: (९८९८९५८७४५)

प्रोफेसर जितेंद्र श्रीवास्तव
jksrivastava@ignou.ac.in
विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,
इंदिरा गांधी ओपन विश्वविद्यालय (इग्नू),
नई दिल्ली M:9818913798

प्रोफेसर राज कुमार
M:09415201281
drrajkumar@bhu.ac.in
हिंदी विभाग,काशी हिंदू विश्वविद्यालय ,वाराणसी

प्रोफेसर प्रभाकर सिंह
(9450623078)
prabhakarhindi@bhu.ac.in
प्रोफेसर,हिंदी विभाग,काशी
हिंदू विश्वविद्यालय,वाराणसी

श्रद्धा सिंह ९४९५५३०५८७
shraddha.singh@bhu.ac.in
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ.आभा गुप्ता ठाकुर (9450960955)
abhag.hindi@bhu.ac.in
प्रोफेसर, हिंदी विभाग,काशी हिंदू
विश्वविद्यालय,वाराणसी
डॉ.गाजुला राजू (9059379268)
raju.g@allduniv.ac.in
सहायक प्राध्यापक,हिन्दी एवं आधुनिक
भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद
विश्वविद्यालय,प्रयागराज २११००२
डॉ.जर्नादन 9026258686
janardan@allduniv.ac.in
(सहायक प्राध्यापक)

हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
डॉ. बिजय कुमार रविदास
bkrabidas@allduniv.ac.in
9432345604
सहायक आचार्य हिन्दी एवं आधुनिक
भारतीय भाषा विभाग,इलाहाबाद
विश्वविद्यालय,प्रयागराज २११००२

विदेश

प्रोफेसर उल्फत मुहीबोवा
ulpatxon_muxibova@tsuos.uz
M:998946443037
Tashkand State
University of
Oriental Studies,
Tashkand,Uzbekistan
प्रोफेसरग्युज़ेल स्त्रेलकोवा
str@iaas.msu.ru.
M: +79199933635
एशिया और अफ्रीकी देश
अध्ययन संस्थान,मास्को राजकीय
विश्वविद्यालय,मास्को
Farzaneh Azam Lotfi
f.azamlotfi@ut.ac.ir
Associate Professor
Department of foreign
languages
University of Tehran,Iran

परामर्श मण्डल

भारत

विदेश

डॉ. प्रताप सहगल
(९८१०६३८५६३)
प्रो. अब्दुल बिस्मिल्लाह
(९८११३०६३३१)
डॉ.शशि सहगल
(९८९९१६६१२९)
प्रो. कृपाशंकर पाण्डेय
(९९८४५२३७०६)
प्रो. मोहन
(९८७१११५५००)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
प्रो.लालचंद राम
९९९००७०८९५
विभागाध्यक्ष,एन सी ई आर टी
प्रो.राम आहलाद चौधरी
(९४३२०५१५००)
(विभागाध्यक्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय)
प्रोफेसर (पूर्व) शत्रुघ्न कुमार
shatrughnakumar@ignou.ac.in
प्रो.चंदा देवी
(८००४९२८४४१)(इला. यू.)
प्रो. रामकली सराफ
(९३८९४३२१६५)
डॉ० प्रभा पंत
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,
एम०बी०रा०सा०महाविद्यालय,हल्द्वानी
dr.prabhant@gmail.com
प्रो. रूबी जुत्शी
कश्मीर यूनिवर्सिटी
९४१९०५८५८५

प्रो. सरन घई
(±१ (६४७) ९९३-०३३०)
कनाडा
तेजेन्द्र शर्मा
(४४ ७४००३१३४३३)
(Ûet . kesâ .)
प्रो. पुष्पिता अवस्थी
(±९१ ७०५८४-६२९५१)
(www.pushpitaawasthi.com)
नीदरलैंड
डॉ. सुरेश चंद्र शुक्ल
'शरद आलोक'
(±४७ ९००७०३१८)
(speil.nett@gmail.com)
नॉर्वे
अनुराग शर्मा
(±१ (४९२) ६९२-१३६२)
(indiasmart@gmail.com)
अमेरिका
रेखा राजवंशी
(±61 403116301)
ऑस्ट्रेलिया

प्रकाशक, मुद्रक और मालिक डॉ. मो. सलीम ने अजीम इंडिया प्रिंटर्स, अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) में छपवा कर ४८३ अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद) से प्रकाशित किया।सम्पादक डॉ. मो. सलीम, ४८३ अटाला, प्रयागराज (इलाहाबाद)सभी मामले प्रयागराज (इलाहाबाद) की ही अदालत में होंगे।

साहित्य मेघ

sahityamegh.com

अप्रैल २०२३

डॉ. दानिश (९६९६४८६३८६)

प्रधान संपादक

डॉ.तबस्सुम जहां (९८७३१०४११०)

उप-संपादक (अवैतनिक)

एक प्रति : १५०/-, वार्षिक : १५००/-

BANK DETAIL : IFSC CODE : UBIN0530371
MOHD SALEEM UNION BANK, CIVIL LINES,
PRAYAGRAJ

डॉ.राजविंदर कौर (९७५९९१२४३४)

सह-संपादक (अवैतनिक)

श्रीमती एस.के.'सुमन' (९९७०६८०२३५)

आर्थिक सलाहकार

डॉ.मुहम्मद सलीम (संपादक) (९९९९१४२४११)

sahityamegh@gmail.com

४८३,अटाला,प्रयागराज-२११ ००३

उत्तर प्रदेश,भारत

वार्षिक : १५००/- (भुगतान के लिये :९६९६४८६३८६)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का खोंसल बिरवा	ओमप्रकाश सिंह	5
नवगीत और जातीय अस्मिता	डॉ. राजेन्द्र गौतम	11
हमारे युग का नायक	डॉ. राजकुमार	15
आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना के निकष और हिंदी नवजागरण	प्रभाकर सिंह	19
कविता परिभाषा /प्रकार / उद्देश्य	डॉ श्याम सखा श्याम	24
दाम्पत्य और व्यक्तित्व का संबंध	डॉ.किंगसन सिंह पटेल	38
वर्तमान समय में "कामायनी" की प्रासंगिकता	डॉ ताबिन्दा रिजवी	46
भुरकुड़ा केंद्र में संत बूला और उनका लोक' मध्यकालीन संत काव्य परम्परा	रंजना सिंह	49
मध्यकालीन संत काव्य परम्परा	रितु यादव	54
वृद्ध जीवन की विडंबनाएँ और रेहन पर रघू उपन्यास	संत कीनाराम त्रिपाठी	60
हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा एवं स्रोत	सुप्रिया मिश्रा	64
हिंदी सिनेमा में राष्ट्रीय चेतना का बदलता स्वरूप	अजय सिंह रावत	72
साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंधों का आख्यान है सतह से उठता आदमी'	कुलदीप कुमार '	76
ग्रामोत्थान के संदर्भ में सुझाव : शिवपूजन सहाय	राजेश्वरी मौर्य	79
स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति:ध्रुवस्वामिनी एवं 'चित्रांगदा'	पूजा प्रसाद	83
'सेज पर संस्कृत : जैन धर्म में नारी जीवन का यथार्थ'	आकांक्षा मिश्रा	88
'उम्र भर देखा किए' (समीक्षा)	प्रियंका जैन	93
बयान बाहर से पुनर्संभवा तक(पुस्तक-समीक्षा)	प्रो.मंजू मुकुल	96
पाठक को भीतर तक छूती-भिगोती लघुकथाएँ (पुस्तक-समीक्षा)	शोभा रस्तोगी	99

‘नवगीत आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति है’: मिश्र , ‘नवगीत अहं से वयं तक की यात्रा है’: राजेंद्र गौतम

मुम्बई। ‘गीत का खेत यदि तैयार नहीं होता तो नवगीत पैदा नहीं होता। नवगीत आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति है’। ये विचार प्रख्यात नवगीतकार डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र ने अंधेरी के व्यंजन हॉल में ‘कथा’ व ‘दीनदयाल मुरारका फाउंडेशन’ द्वारा ‘नवगीत:कल, आज और कल’ विषय पर आयोजित जहीर कुरेशी स्मृति व्याख्यानमाला में व्यक्त किये। उन्होंने कविता में छंद के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया।

वरिष्ठ नवगीतकार और आलोचक डॉ. राजेंद्र गौतम ने कहा, ‘नवगीत अन्य काव्यरूपों का प्रतिद्वंद्वी या शत्रु नहीं है बल्कि उसकी पूरक भूमिका है। गीत के संदर्भ में नवगीत को अहं से वयं तक की यात्रा के रूप में देखा जा सकता है और नई कविता से उसका अंतर इस रूप में है कि इसने ‘जन’ और ‘देश’ को पैदल-पैदल चल कर जाना है, हवाई सर्वेक्षण से नहीं।

सुश्री दीप्ति मिश्र ने ‘जहीर कुरेशी की गज़लों का विस्तृत परिचय दिया। उनके अनुसार ‘जहीर कुरेशी सकारात्मक सोच जनपक्षधर रचनाकार थे।’ डॉ. प्रेम जनमेजय का मानना था कि जहीर कुरेशी मानव मन के चितरे थे। संयोजक व कथाकार, पत्रकार हरीश पाठक ने कहा, ‘जहीर कुरेशी त्रास के, यातना के और आम आदमी के स्वप्नों के रचनाकार थे।

इस मौके पर डॉ. बुद्धिनाथ मिश्र व डॉ. राजेंद्र गौतम ने अपने चुनिंदा नवगीतों का पाठ किया। प्रख्यात गायक, गीतकार सुधाकर स्रेह ने जहीर कुरेशी की गज़लों, नवगीतों की सांगीतिक प्रस्तुति दी। संचालन डॉ. शैलेश श्रीवास्तव ने, स्वागत भाषण कमलेश पाठक ने व आभार प्रदर्शन दीनदयाल मुरारका ने किया।

इस मौके पर वरिष्ठ पत्रकार, पूर्व सांसद संतोष भारतीय, फौजिया अरसी, सुदर्शना द्विवेदी, करुणाशंकर उपाध्याय, नीलकंठ पारटकर, सुभाष काबरा, संजीव निगम, देवमणि पांडेय, कुसुम तिवारी, नीलिमा पांडेय, मंजुला देसाई, नीता बाजपेयी, संगीता बाजपेयी आदि साहित्य, संस्कृति से जुड़े रचनाधर्मी मौजूद थे।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का खोंसल बिरवा

ओमप्रकाश सिंह

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नयी दिल्ली के भारतीय भाषा केन्द्र में
प्रोफेसर और अध्यक्ष।
मो: ९८९९४४६८६९

केदारनाथ सिंह को पहली बार मैंने कब देखा, शायद सन्ध्या और राजीव की शादी में, बनारस में। मुझे याद है केदारनाथ सिंह की वह कविता जिससे मैं पहली बार उनकी कविता से परिचित हुआ। कविता है-‘शहर में रात’। यह कविता हंस में छपी थी। समकालीन हिन्दी कविता की चर्चा केदारनाथ सिंह को छोड़कर सम्भव नहीं है। वे आज की हिन्दी कविता के निर्विवाद सर्वमान्य प्रतिष्ठित कवि हैं।

केदारनाथ सिंह के कवि व्यक्तित्व का निर्माण लम्बे संघर्ष के पश्चात् हुआ है। छात्रा जीवन के दौरान बनारस के उदयप्रताप कॉलेज से ही उनका साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हो गया था पर उसे धार मिली काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के सान्निध्य में। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को गुरु रूप में पाकर केदारनाथ सिंह की प्रसन्नता का अन्दाज उनकी बातचीत से ही लग जाता था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आकाशधर्मा गुरु थे और उनके शिष्यों में केदारनाथ सिंह ऐसे थे जिनके पास अपने गुरु के संस्मरणों की भरमार थी। उनसे बातचीत के दौरान ऐसे अनेक संस्मरण सामने आ जाते थे जिनमें गुरु के प्रति उनके कृतज्ञता भाव की स्पष्ट झाँकी दिखाई पड़ती थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ बिताये गये समय और उनकी चिन्ता को याद करते हुए केदारनाथ सिंह बताते थे कि ‘मेरे एम.ए. करने के बाद द्विवेदीजी मेरी नौकरी को लेकर चिन्तित थे। उन्होंने मुझसे कई बार कहा

कि मैं तुम्हें कहीं खोंसना चाहता हूँ। खोंसने से उनका आशय मुझे कहीं नौकरी पर लगाने से था।” खोंसना खौंटी भोजपुरी का शब्द है। बिरवे खोंसे भी जाते हैं और रोपे भी जाते हैं। रोपना यत्रपूर्वक बिरवा लगाना है और खोंसने में उस तरह का यत्र निहित नहीं है। अपने खोंसे हुए बिरवे के विकास को द्विवेदीजी ने अपने जीवन काल में ही अच्छी तरह से देख लिया था। काश ! वे अपने खोंसे हुए बिरवे का लहलहाता हुआ छतनार रूप और विस्तार भी देख पाते।

केदारनाथ सिंह के रचना संसार में पद्य और गद्य दोनों शामिल हैं। उनके कवि व्यक्तित्व पर तो विस्तृत चर्चा हुई है पर गद्यकार व्यक्तित्व पर कम। गद्यकार के रूप में एक तरफ तो केदार जी ने शोध के सिलसिले में आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं तो दूसरी ओर उन्होंने दो सर्जनात्मक पुस्तकों का भी प्रणयन किया है-‘मेरे समय के शब्द’ और ‘कब्रिस्तान में पंचायत’। पहले थोड़ी सी चर्चा केदार जी के कवि व्यक्तित्व पर। केदारनाथ सिंह ने बीसवीं शताब्दी के ठीक उत्तरार्द्ध से कविता लिखने की शुरुआत की थी। जाहिर है कि उन्होंने पहले छिटपुट कविताएँ लिखीं जो पत्रा-पत्रिकाओं में प्रकाशित और चर्चित हुईं। उस समय के लिखे कवि के कई गीत मशहूर हैं। केदारनाथ सिंह का पहला कविता-संग्रह ‘अभी बिलकुल अभी’ १९६० ई. में प्रकाशित हुआ था। इस काव्य-संग्रह के बाद केदारनाथ सिंह ने लगभग बीस वर्षों तक दूसरा काव्य-संग्रह नहीं दिया। इन बीस वर्षों में उन्होंने क्यों नहीं लिखा ? इस पर

वे मौन साध लेते थे। जानने वाले जानते हैं कि उक्त कालखण्ड के बहुलांश में केदारनाथ सिंह देवरिया जिले के 'पडरौना' कस्बे में एक कॉलेज के प्राचार्य पद पर कार्यरत थे और पारिवारिक संघर्षों से जूझ रहे थे। उस स्थिति में कोई भी सृजनात्मक कार्य करना अत्यन्त कठिन था। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली में आने के बाद उनके जीवन में

ठहराव आया और १९८० ई. में उनका दूसरा कविता संग्रह 'जमीन पक रही है' प्रकाशित हुआ। यह संग्रह कवि की नयी भावभूमि का संकेत देता है। पहले की कविताओं की तरह इसमें न गीतात्मकता युक्त रूपानियत है न मद्धिम संवेग। इस संग्रह के नामकरण से ही उनकी इस मान्यता का पता चल जाता है कि उनकी कविता की जमीन अभी पूरी तरह से पकी नहीं है बल्कि पक रही है।

कविता के उक्त कालखण्ड पर बात करते हुए इस तथ्य की ओर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए कि जिस समय केदारनाथ सिंह मौन थे, उसी समय 'नयी कविता' के लगभग सभी कवियों ने अपनी महत्त्वपूर्ण पहचान बनायी। विजयदेवनारायण साही, कुँवर नारायण, मुक्तिबोध, धूमिल, भारतभूषण अग्रवाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि के काव्य-सृजन का यह उत्कृष्ट काल है। इसी कालखण्ड में अज्ञेय खूब चर्चित हुए और अपदस्थ भी। अपदस्थ करने वाले कोई और नहीं मुक्तिबोध और धूमिल थे। जिस समय नयी कविता ऐसे दौर से गुजर रही थी उस समय केदारनाथ सिंह पत्रा-पत्रिकाओं में खूब छप रहे थे और उनकी कविता पर चर्चा भी हो रही थी, पर यह उनका आत्मनिर्वासन जैसा काल है। ये बातें गुजरे हुए जमाने की हैं। १९८० ई. के बाद केदारनाथ सिंह ने मुड़कर पीछे नहीं देखा और एक के बाद दूसरे काव्य-संग्रहों की सृष्टि करते रहे।

आज केदारनाथ सिंह की कविता उत्कर्ष पर है। अपनी कविता पर विचार करते हुए कुछ समय पहले उन्होंने यह सवाल उठाया था कि उन्हें बिम्बधर्मी कवि क्यों कहा जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में कुछ कहने या लिखने की आवश्यकता नहीं है। यदि वे तीसरे सप्तक के अपने ही वक्तव्य पर ध्यान देते तो उन्हें इस प्रश्न का जवाब मिल जाता। अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा है-'कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्ब-विधान पर।' इतना ही नहीं इस वक्तव्य में उन्होंने बिम्ब की विशेषता भी बताई है-'विषय को

वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त। प्राचीन काव्य में जो स्थान चरित्रा का था आज की कविता में वही स्थान बिम्ब अथवा इमेज का है।' अभी तक हम केदार जी की कविता के शुरुआती स्वरूप पर बात कर रहे हैं। दरअसल उनके पहले कविता-संग्रह और दूसरे कविता संग्रह की कविताओं में रचना विधान की दृष्टि से काफी फर्क है। उनकी प्रारम्भिक कविताओं या पहले संग्रह की कविताओं की स्थिति दूसरे संग्रह में ही बदल जाती है। पहले संग्रह तक उन पर अज्ञेय के प्रभामण्डल का प्रभाव था और बिम्बों के प्रति विशेष आग्रह। अब वह स्थिति न रही। उनकी कविताओं में जीवन जगत् का एक नया स्वरूप दिखाई देने लगा। केदारनाथ सिंह की कविताओं का दायरा विस्तृत है। ग्रामीण, कस्बाई और जनपदीय जीवन से उनकी कविताएँ पूर्णतः सम्पृक्त हैं। उनकी कविताओं में लोक-जीवन और लोक-संस्कृति के अनेक मूल्यवान तत्त्वों की रक्षा का इतना आग्रह है कि वे अपने समकालीन कवियों से अलग दिखाई देने लगते हैं। उनकी कविता का यह पक्ष उन्हें नागार्जुन और विशेषकर त्रिलोचन के नजदीक लाता है। त्रिलोचन से कवि का लम्बा संग-साथ था और उन्होंने काफी कुछ त्रिलोचन से सीखा है, इसका उल्लेख केदार जी ने स्वयं कई जगह किया है। केदारनाथ सिंह शब्दों के मितव्ययी कवि हैं। जो भी हो, वे जानते थे कि उन्हें कविता में कहाँ और कितने शब्द खर्च

करने हैं। इसीलिए उनकी कविता में कहीं भी शब्दों के प्रति अतिरिक्त आग्रह नहीं दिखाई देता। कहा जाता है कि केदारनाथ सिंह होने, दिखने और लिखने में फर्क नहीं करते थे। उनकी कविता आवश्यकता से अधिक सधी हुई और साफ-सुथरी होती है। बिम्ब दर बिम्ब एक-दूसरे में सिमटी हुई। वे जीवन-धर्मी कवि हैं। जीवन के अनेक रूप, संसार की अनेक समस्याएँ, गायब होते रिश्ते, गाँव-देहात के प्रति आग्रह आदि उनकी कविताओं में बिखरे पड़े हैं। केदारनाथ सिंह की संवेदना महानगर से ठेठ ग्रामांचल तक फैली हुई है। उनकी कविताओं में विश्व-बोध के भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं। केदारनाथ सिंह की विशेषता है कि विश्व-बोध के चक्कर में फँसकर वे अपने स्थान, परिवेश और ग्रामीण चेतना से विलग नहीं होते। वे उन मूल्यों के लिए चिन्ताग्रस्त थे, जो मानव को सही मानव के रूप में स्थित करते हैं। दरअसल केदारनाथ सिंह की कविताओं में

एक नयी दुनिया का स्वप्न झाँकता हुआ दिखाई देता है। केदारनाथ सिंह मूलतः भारतीय परिवेश के कवि हैं। यह जरूर है कि उनके परिवेश का दायरा अपनी सीमा का अतिक्रमण कर विश्व परिवेश की सीमा में घुस जाता है। उनका काव्य-संसार आज के भारतीय समाज के प्रति गहरी संवेदना और लगाव को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने वाला संसार है। वे जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण के कवि हैं। उनकी कविताओं में आज के समय तथा समाज के प्रश्नों और चुनौतियों से टकराने की एक खास क्षमता है। कहा जा सकता है कि ये कविताएँ एक नयी आस्था का प्रतिसंसार रचने वाली कविताएँ हैं।

केदारनाथ सिंह की एक कविता है 'यहाँ से देखो'। जिस संग्रह में यह कविता है उसके फ्लैप पर लिखा हुआ है कि कवि को 'उन तमाम स्रोतों का पता है जहाँ से जीवन मिलता है।' हमारा आज का परिवेश विभिन्न विडम्बनाओं से युक्त, आपाधापी भरा है। इस आपाधापी भरे परिवेश में काफी कुछ नष्ट हो चुका है। व्यक्ति के पास अपनी कहने के लिए बहुत कम चीजें बची हैं। ऐसे परिवेश में भी कवि आश्वस्त है-

और बहुत कुछ नष्ट हो चुका है
वहाँ अब भी अब भी
प्यार है।

इस कविता में 'प्यार' एक ऐसी शक्ति है जो जीवन को नयी ऊर्जा दे रही है। बनारस से केदार जी का अटूट रिश्ता था। उनके जीवन के कई महत्वपूर्ण साल बनारस में गुजरे थे। उसी बनारस पर उनकी एक कविता है 'बनारस'। केदारनाथ सिंह ने स्वीकार किया है कि इस कविता के लेखन में उन्हें गहरे जद्दोजहद, तनाव और असमंजस से गुजरना पड़ा था। इस कविता के बारे में कहा जाता है कि यह उनके गहन इन्द्रियबोध को प्रकट करती है। बनारस से केदारनाथ सिंह का कुछ वैसा ही रिश्ता था, जैसा उनके गाँव चकिया से। उनकी काव्य-यात्रा के अनेक पड़ावों पर चकिया और बनारस मौजूद हैं। इसी क्रम में उनकी कविता 'माँझी का पुल' को भी देखना चाहिए। जाहिर है कि केदारनाथ सिंह के लिए न तो 'माँझी का पुल' मात्रा एक पुल है और न ही 'बनारस' मात्रा एक शहर। वह शहर

से कुछ अधिक है। इस

शहर के साथ इतनी किंवदन्तियाँ हैं, इतने मिथक जुड़े हुए हैं, वहाँ की आबो-हवा और जीवन-शैली ऐसी है कि उसे समग्रता में पकड़ पाना कठिन है। इस शहर का चरित्रा जटिल ही नहीं अन्तर्विरोधी भी है। केदारनाथ सिंह के छात्रा जीवन का लम्बा समय इस शहर में गुजरा था- उदयप्रताप कॉलेज से लेकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तक। वे बनारस को अच्छी तरह समझ सके हैं। 'बनारस' शीर्षक उनकी कविता में शहर का चरित्रा इस तरह व्यक्त हुआ है-

अद्भुत है इसकी बनावट

यह आधा जल में है

आधा मन्त्रा में

आधा फूल में है

आधा शव में

आधा नींद में है

आधा शंख में

अगर ध्यान से देखो

तो यह आधा है आधा नहीं है।

बनारस एक ऐसा शहर है जो जीवन ही नहीं मृत्यु

का भी महोत्सव मनाता

है। कवि को यह शहर एक टाँग पर खड़ा दिखाई

देता है-

किसी अलक्षित सूर्य को

देता हुआ अर्घ्य

शताब्दियों से इसी तरह

गंगा के जल में

अपनी एक टाँग पर खड़ा है यह शहर

अपनी दूसरी टाँग से

बिलकुल बेखबर

आज केदार जी के न रहने पर उनकी इस कविता पर कुछ सवाल उठाये जा रहे हैं। दरअसल इस कविता को समझने के लिए कविता की समझ के साथ-साथ बनारस की समझ भी जरूरी है। 'कविता क्या है' कविता में केदार जी को आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल की मूँछें याद आती हैं। यह एक ऐसी कविता है जिसे समझा तो जा सकता है, व्याख्यायित नहीं

किया जा सकता। इस कविता में एक राज है। एक ऐसा राज जिसे केदारनाथ सिंह ही नहीं आचार्य शुक्ल भी बार-बार तलाशते रहे। ध्यान देने की बात है कि आचार्य शुक्ल 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध जीवन भर लिखते रहे। ड्राफ्ट-दर-ड्राफ्ट। सन् १९०९ से १९२९ ई. तक। कहा नहीं जा सकता है कि वे कविता के राज पर बात कर सन्तुष्ट हो चुके थे या नहीं। शायद हाँ, शायद नहीं।

केदारनाथ की कविता में उभरा एक बिम्ब देखिए-

मैंने जब भी सोचा

मुझे रामचन्द्र शुक्ल की मूँछें याद आयीं

मूँछों में दबी बारीक-सी हँसी

हँसी के पीछे कविता का राज

कविता के राज पर

हँसती हुई मूँछें।

केदार जी ने अपनी कई कविताओं में कविता पर विचार किया है। एक और कविता में वे लिखते हैं-

नये काव्यशास्त्रा के अनुसार

मुँह में बचे हुए चावल के स्वाद को

बचा लेने का नाम है कविता

इस दुनिया में जो भी कुछ गलत हो रहा है, केदारनाथ सिंह उसके लिए परेशान हैं। वे निर्माण के कवि हैं। कहीं कुछ गलत होता उन्हें ऐसा लगता है कि अब संसार का पुनर्निर्माण करना होगा-

उठो

झाड़न में

मोजों में

टाट में

दरियों में दबे हुए धागो उठो

उठो कि कहीं कुछ गलत हो गया है

उठो इस दुनिया का सारा कपड़ा

फिर से बुनना होगा।

कविता के साथ-साथ केदारनाथ सिंह ने सुविचारित गद्य भी लिखा है। गद्य की उनकी

दो शोधपरक आलोचनात्मक चर्चित पुस्तकें हैं-

१. कल्पना और छायावाद।

२. आधुनिक कविता में बिम्ब विधान।

ये पुस्तकें उनके शोध का परिमार्जित और परिवर्द्धित रूप हैं। केदारनाथ सिंह ने कविता में जिन भावभूमियों को

ग्रहण किया है, उसे उनकी निम्न गद्य-पुस्तकों में भी देखा जा सकता है-

१. मेरे समय के शब्द।

२. कब्रिस्तान में पंचायत।

'मेरे समय के शब्द' उनके कुछ लेखों और टिप्पणियों का संग्रह है। इस संग्रह में तीन साक्षात्कार भी शामिल हैं। इस पुस्तक के कथ्य का कलेवर पूरी तरह साहित्य से जुड़ा हुआ है। इस पुस्तक में केदारनाथ सिंह अपने समय की काव्यधारा से टकराते हुए आधुनिकता पर गम्भीर विमर्श करते हैं। इस कड़ी में उन्हें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सुमित्रानन्दन पन्त, नागार्जुन, अज्ञेय आदि साहित्यकार-कवि तो याद आते हैं, ताप के ताये के कवि त्रिलोचन और श्रीकान्त की एक कविता 'घर-धाम' भी याद आती है। केदारनाथ सिंह सम्भवतः पहले कवि हैं जिनकी दृष्टि आलोचक रामविलास शर्मा

के कवि-कर्म पर गयी है। एक आलोचक के काव्यों की पड़ताल करते हुए केदारनाथ सिंह ने ठीक-ठीक से लक्षित किया है, 'उनकी कविता की दुनिया हिन्दुस्तानी गाँव की तरह ऊपर-ऊपर बेहद शान्त और स्थिर दिखाई पड़ने वाली दुनिया है। इसलिए कविता में तुरत-फुरत क्रान्ति खोजने वाले पाठकों को थोड़ी निराशा हो सकती है।'

केदारनाथ सिंह ने रामविलास शर्मा की कविताओं की चर्चा १९८२ ई. में की थी। उस काल में साहित्य के अनेक धुरन्धरों के कानों में रामविलास शर्मा की कविता की अनुगूँज भी नहीं पहुँची थी।

केदारनाथ सिंह का आधुनिकता विमर्श केवल हिन्दी कविता तक ही सीमित नहीं है। वे समकालीन अँगरेजी कविता पर भी गम्भीर विमर्श करते हैं। विश्व कविता में आधुनिकता के आविष्कर्ता के रूप में वे एजरा पाउण्ड की पहचान करते हैं। वे रेनर मारिया रिल्के और फ्रांस के कवि रेने शा की कविता पर अधिकारपूर्वक बात करते हैं। रेनर मारिया रिल्के की कविता पर बात करते हुए केदारनाथ सिंह ने लेख के प्रारम्भ में ही एक अब्दुत दृश्य का निर्माण किया है। पार्क, पार्क में अकेली बेंच और उस पर बैठा हुआ एक उदास और चिन्तित बूढ़ा आदमी। गेंद की तलाश में उस तरफ आये हुए कुछ छोटे-छोटे बच्चे, गेंद का एक बच्चे के सिर के ऊपर से गुजरते हुए ओझल हो जाना। केदारनाथ सिंह इन परस्परस्पर्धी गतिचित्रों के आकस्मिक संयोग की

पहचान करते हुए रिल्के की उस कविता को याद करने की कोशिश करते हैं, जिसमें ऐसा चित्रा आया है। कविता तो उन्हें याद नहीं आती पर इस चित्रा के माध्यम से रिल्के की कविता पर वे सारगर्भित टिप्पणी करते हैं 'रेनर मारिया रिल्के प्रकृति और जीवन के ऐसे ही सूक्ष्म इरादों के कवि हैं, जो अपने शब्दों के अर्थ को तर्कबद्ध संगति में बाँधने के बजाय, संगठित गति को एक खास दिशा की ओर मोड़कर, स्वयं उनकी ओट में खड़ा हो जाता है। यही उसकी शैली की खास दुरुहता है और यही है वह गहन दार्शनिक मुद्रा जो उसके काव्यात्मक व्यक्तित्व के चारों ओर कुहरों और परछाइयों का एक जाल-सा बुन देती है।' 'मेरे समय के शब्द' पुस्तक में व्यक्ति-प्रसंग' खण्ड में केदारनाथ सिंह ने त्रिलोचन और नामवर सिंह के बारे में लिखा है। वे त्रिलोचन और नामवर सिंह के बहुत नजदीक रहे हैं। इसी का परिणाम है कि वे बातें बड़ी साफगोई से कह जाते हैं। केदारनाथ सिंह ने स्वीकार किया है कि नामवर सिंह पर लिखना उनके लिए वैसा कठिन कार्य रहा है, जैसा बनारस पर कविता लिखना। वैसे इन दोनों व्यक्ति प्रसंगों में केदारनाथ सिंह ने त्रिलोचन और नामवर सिंह के व्यक्तित्व का जिस अन्दाज में प्रस्तुतीकरण किया है, उससे उनकी मुकम्मल छवि बनती है। व्यक्तित्व पर बात करते हुए दोनों प्रसंगों में त्रिलोचन और नामवर की साहित्यिक विशेषताएँ अपने आप उभर आई हैं। 'कब्रिस्तान में पंचायत' केदारनाथ सिंह की दूसरी सकारात्मक गद्य रचना है, जिसमें रचनाकार की संवेदना अधिक व्यापक है। उनकी चिन्ता का दायरा बढ़ गया है। इस संग्रह में केदार की चिन्ता के केन्द्र में छोटी घायल चिड़िया, किसानों का जीवन, बदलता गाँव, साहित्य, पाण्डुलिपियाँ, नीम का पेड़ आदि अनेक चीजें शामिल हैं। इस संग्रह में वे भारतीय कविता पर भी लम्बी बात करते हैं। गाँव से आया व्यक्ति धीरे-धीरे शहर का हिस्सा बनने लगता है। केदार को गाँव की याद हमेशा आती है। गाँव उनकी स्मृतियों में बसा है इसका अन्दाज उनकी बातचीत से लगता है। उन्हें जब भी मौका मिलता है, वे आज भी अपने गाँव जाते हैं। वहाँ का जीवन, हल, ट्रैक्टर, वर्षा, माँझी का पुल, किसानों की गरीबी, उनकी आत्महत्या आदि केदार की कविता के जद में हैं और इनका भावात्मक वर्णन 'कब्रिस्तान में पंचायत' में भी मिलता है। कभी वे पड़रौना के किसानों के धीरज पर बात करते हैं तो कभी किसानों

की आत्महत्या पर दुख व्यक्त करते हैं। उन्हें इस बात से सन्तोष मिलता है कि अभी पूरब के किसानों ने आत्महत्या नहीं की है पर वे आत्महत्या से दूर नहीं हैं। छोटे किसानों का घाटा भी छोटा है, शायद इसीलिए वे विचलित नहीं होते। घाटे-दर-घाटे की खेती में किसान चिन्तित है। उन्हें बीज, खाद और पानी की चिन्ता है। एक फसल के घाटे की पीठ पर कैसे दूसरी फसल खड़ी हो सके-यह किसान की बड़ी चिन्ता है। भारतीय किसान के दुख को केदार बड़ी शिद्धत से महसूस करते हैं और लिखते हैं- 'पर सवाल यह है कि इन दुःखों से जूझते हुए बृहत्तर भारतीय समाज का सबसे सहनशील प्राणी किसान यदि आत्महत्या पर उतारू हो जाये तो क्या उसकी

अहमियत सिर्फ इतनी भर है कि वह अखबार की एक खबर बनकर रह जाये। यह स्थिति अपने आप में पूरे राष्ट्रीय सम्बन्ध पर एक टिप्पणी है बेहद तल्ख और हिला देने वाली टिप्पणी।' आज किसानों की आत्महत्या आम हो गयी है। हर दिन के अखबार में कहीं- न-कहीं के किसानों की आत्महत्या की खबर छपती है। उनकी आत्महत्या का मूल कारण कृषि कर्म में लगातार होती जा रही गिरावट है। इस गिरावट के भी अपने कारण हैं। खेती-बारी के संसाधनों का महँगा होते जाना, ऊपर से प्राकृतिक आपदा। किसान इस दोहरी मार को झेल नहीं पा रहे हैं। एक के बाद दूसरे, तीसरे और चौथे घाटे से उनकी कमर टूटी जा रही है। किसान अपने को बेबस भले पा रहा है, पर उसमें अदम्य जिजीविषा भी है। लगातार घाटा सहकर भी वह कृषि कार्य को स्थगित नहीं कर रहा है। केदारनाथ सिंह ने किसानों की इस स्थिति पर सार्थक टिप्पणी की है- 'किसानी जीवन में दुःख इसी तरह स्थगित होते रहते हैं, निरस्त कभी नहीं होते।' किसानों का जीवन अभावग्रस्त है पर बड़े किसानों की जीवनशैली में बदलाव भी आये हैं। बाजार अपनी तरह से किसानों को तोड़ रहा है। छोटे किसान तो घिसटने के लिए मजबूर हो उठे हैं पर चूल्हा सबके घर जलता है। हाँ, यह जरूर है कि कुछ घरों में अब गैस के चूल्हे जल रहे हैं। खतरनाक बात तो यह है कि किसान खेती से उदासीन होते जा रहे हैं। किसान थका है, हारा है, टूटा है, आत्महत्या कर रहा है पर कहीं-न-कहीं आशा के सूत्रा भी है। कृषि-कर्म से वह मुँह नहीं चुरा सकता। केदारनाथ सिंह केशब्दों में- "यह आत्महत्या के विरुद्ध लड़ाई है जो किसान अपने

दमखम पर लड़ रहा है। क्या यह विस्मयकारी नहीं है कि कृषि कर्म के सारे असन्तोष के बावजूद खेत अब भी जोते जा रहे हैं और अगली बोआई के लिए बीज भी तैयार किये जा रहे हैं। यह है किसान का जीवट, शायद पूरबी किसान में यह जीवट अधिक है। केदार केवल किसानों से सहानुभूति नहीं रखते बल्कि वे आश्वस्तजनक विश्वास भी रखते हैं। घाटे के बावजूद किसान अपने अनिश्चय को एक तरफ झाड़

देता है। किसानों की आत्महत्या देशव्यापी है। देश के हर क्षेत्र में ऐसी स्थिति बनी हुई है, जिनमें किसान आत्महत्या कर रहे हैं। केदारनाथ सिंह का मानना है 'पूरबीकिसान कुछ अधिक अड़ियल होता है और बेशक कुछ अधिक सन्तोषधर्मा भी।' यह आकस्मिक नहीं है कि केदार की कविताओं में जिन विषयों की तरफ बार-बार झुकाव है, उनकी सघन पुनरावृत्ति उनके गद्य लेखन में मौजूद है। माँ की स्मृतियाँ केदार के मस्तिष्क में अनवरत बनी रहती हैं। गाँव (चकिया) से उनका

अतिरिक्त मोह है। सड़क पर घायल चिड़िया, हल, ट्रैक्टर, नूर मियाँ की याद, नीमके पेड़ के नीचे वाक्यपदीय के भाष्य आदि विषय उनकी गद्य रचना का एक आयाम हैं तो दूसरी तरफ भिखारी ठाकुर से लेकर ब्रिटेन में हिन्दी कविता तक दूसरा आयाम है। इनके बीच-बीच में प्रो. विक्टर इबूलिस वसवन्ना, अक्का महादेवी, कुमार आशान,

गुर्रम जाशुआ आदि न जाने कितने व्यक्तित्व मौजूद हैं और उनके खास गुणों को रेखांकित करता हुआ केदार के कुछ अपने निजी वाक्य हैं। ये वाक्य सुघड़ गद्य के सुन्दर उदाहरण हैं। बारिश के साथ मिट्टी की गन्ध का गहरा रिश्ता है। पानी बरसेगा तो मिट्टीसे सौंधी महक उठना स्वाभाविक है। मौसम की पहली बौछार में तो यह गन्ध अनायास ही नथुनों तक पहुँच जाती है। दूसरी, तीसरी या चौथी बौछार के समय यह हल्की जरूर हो जाती है पर समाप्त नहीं होती है। दूसरी, तीसरी या चौथी बौछार के समय इस गन्ध का समाप्त होना केदार को उद्वेलित करता है। वे इस गन्ध की तलाश में कालिदास और गालिब तक की यात्रा कर जाते हैं और सोचने लगते हैं, 'मिट्टीकी वह गन्ध-चेतना कहाँ गयी जो हर बौछार के साथ आती थी। सच क्या है? क्या मिट्टी ने अपनी गन्ध खो दी है या मैंने अपनी गन्ध चेतना। सच्चाई शायद दोनों

के बीच में कहीं हो-क्योंकि कुछ-न-कुछ दोनों ने खोया है। गालिब ने जब दरो-दीवारसे उगते हैं सब्जे को देखकर यह पंक्ति लिखी थी कि 'हम बयाबाँ में हैं, और घरमें बहार आई है तो वे अपने भीतर की शायद उसी गहरी क्षति की ओर इशारा कर रहे थे, जिसे उन्नीसवीं शताब्दी में किसी बिन्दु पर भारतीय मानस ने पहली बार अनुभव किया था।' अपने गद्य लेखन में केदारनाथ सिंह किसी सूत्रा को पकड़ते हैं और उसके मूलउत्स की तलाश में दूर-दूर तक की यात्रा कर डालते हैं। वे अपने गाँव की ओर बार-बार लौटते हैं और उस विडम्बना की ओर संकेत करते हैं जो उनके ही नहीं हर गाँव की सच्चाई है। गाँव का ढाँचा हर जगह टूटा है। सम्बन्धों में तनाव हर जगह आया है। हर जगह शिक्षा-प्रणाली चौपट हुई है। केदार की चिन्ता पढ़िए- 'गाँव के जीवन में, पिछले कुछ वर्षों के भीतर सबसे बड़ी दुर्घटना यह घटित हुई है कि वहाँ प्राथमिक शिक्षा की संरचना पूरी तरह व्यर्थ हो गयी है। प्राइमरी स्कूल है, अध्यापकोंको काफी हद तक आर्थिक सुरक्षा भी मिली हुई है, सिर्फ पढ़ाई नहीं होती है। इसअभाव को भरने के लिए असंख्य छोटे-छोटे प्राइवेट स्कूल खुल गये हैं, जो किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते।' इतना ही नहीं, वे लक्ष्य करते हैं कि गाँव से वाचिक परम्परा खत्म हो चुकी है। साहित्य की रही-सही पूँजी (जिसका संग्रह प्रेमचन्द और मैथिलीशरण गुप्त के माध्यम से हुआ था।) अब समाप्त हो गयी है। गाँव के लोग अकेले पड़ते जाने के लिए अभिशप्त हैं। इन तमाम बातों के होते हुए भी केदारनाथसिंह गाँव का मोह छोड़ नहीं पाये हैं। गाँव के प्रति उनके मोह की अनुगूँज दूर तक जाती है। 'मैं अपने गाँव को प्यार करता हूँ, पर सोचता हूँ कि यदि कोई उसका इतिहास लिखना चाहे तो उस खालीपन को क्या करेगा, जो लोगों की स्मृति में यहाँसे वहाँ तक सपाट फैला है।' कहना न होगा कि केदारनाथ सिंह की साहित्य चेतना बहुआयामी है। वे गद्य और पद्य दोनों विधाओं में समान गति से लिखने वाले साहित्यकार थे। उनके साहित्यकार व्यक्तित्व पर ठेठ पूरबी जन-जीवन का गहरा प्रभाव है। अपनी रचनाओं में आचार्य द्विवेदी पूरब के वर्णन के साथ अधिक मुखरित हो जाते हैं फिर उनकारोपा हुआ बिरवा इस प्रवृत्ति से कैसे अलग रह सकता है? शायद यही प्रवृत्ति केदारनाथ सिंह को हर अगली रचना के लिए अतिरिक्त ऊर्जा प्रदान करती है।

नवगीत और जातीय अस्मिता

डॉ. राजेन्द्र गौतम

पूर्व प्रोफेसर
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

समकालीन हिंदी आलोचना के सन्दर्भ में नवगीत और जातीय अस्मिता जैसे पद काफी असुविधा पैदा करते हैं क्योंकि हिन्दी आलोचना और रचना से जुड़ा एक वर्ग इन दोनों के प्रति न तो सहज रूप से ग्रहणशील है और न ही इनकी प्रासंगिकता के प्रति आश्वस्त है। नवगीत का एक उभार नवें दशक में 'नवगीतदशक' योजना के साथ आया था। इक्कीसवीं सदी का आरंभ फिर इसके नए उभार के साथ हुआ है। इन तेरह-चैदह वर्षों में कई अच्छे नवगीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं लेकिन तथाकथित मुख्यधारा का आलोचक इस रचनात्मकता को आज भी पूरी तरह नजरअंदाज किए हैं और विडम्बना यह है कि 'इलीट' वर्ग तक सीमित, फिर भी जनवादी कही जाने वाली ऐसी कविता जिसे डॉ. दूधनाथ सिंह ने एक नई किस्म का रीतिकाल कहा है, उसकी दृष्टि के केन्द्र में बनी रही है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि सैद्धान्तिक रूप में इस आलोचक को साहित्य में जिस प्रगतिशील और समष्टि-उन्मुखी युगबोध की उपस्थिति की अपेक्षा रहती है, नवगीत की उपेक्षा का कारण उस युगबोध की अनुपस्थिति नहीं है अपितु गीत एवं छन्द के प्रति 'एलर्जिक' होना ही इसके मूल में है। इसी 'एलर्जी' के कारण अनेक आलोचक नवगीत को पढ़े बिना ही उस पर अति रोमानियत का आरोप तो लगा ही देते हैं, उसे अबौद्धिक कहकर कविता से अलग 'केटेग्राइज' करके उसे बिरादरी से बाहर करने का षड्यंत्र भी रचते हैं।

नवगीत अब लगभग छह दशक की यात्रा पूरी कर चुका है। इन छह दशकों में हिन्दी कविता में अनेक अहितकर भी हो सकता है। जातीयता का एक अनुवाद 'नेशनलिटी' भी कर लिया जाता है और 'नेशनलिटी' का

पुनरनुवाद राष्ट्रीयता है। आज राष्ट्रवाद को वर्चस्व की संस्कृति का लक्षण बतलाते हुए एक ओर जहाँ इसे उस संकीर्णतावादी उभार से जोड़ा जाता है, जिसकी उपस्थिति उन्नीसवीं-बीसवीं शती में आधुनिक काल की प्रथम दो चरणों की कविता में और आलोचना में तो दिखलाई जाती ही है, दूसरी ओर यह एक खतरनाक समकालीन राजनैतिक एजेन्डा भी है, जिसे एक भावनात्मक 'रेजिमेन्टेशन' के रूप में देखा जाता है। हमारा मानना है कि नवगीत में जातीय अस्मिता की उपस्थिति इन रूपों में नहीं है या नहीं होनी चाहिए। वास्तव में यहाँ जातीय अस्मिता किसी संकीर्ण राष्ट्रवाद की स्थापना न हो कर 'देश' से जुड़ने की, उससे भौगोलिक परिचय प्राप्त करने और उसे प्रगाढ़ करने की मनःस्थिति से सम्बद्ध है। निश्चित रूप से जातीयता का सम्बन्ध संस्कृति से है, पर यह संस्कृति विविधता -- डाइवर्सिटी -- की ही द्योतक है। यदि इस वैविध्य-सम्पन्न जातीयता अथवा सांस्कृतिकता का कोई प्रतिलोम है तो वह है-- वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण। विश्वग्राम का नारा लेकर आनेवाले उत्तर आधुनिक सन्दर्भ गज़ब की एकरूप संस्कृति (?) रच रहे हैं। बीसवीं सदी का अंतिम दशक बोलियों और लोक-भाषाओं को हड़पता हुआ आया। पेप्सी-कोला की एकरूप समता की आँधी हमारी सांस्कृतिक जड़ों को झकझोरती हुई आई। आदमी की पहचान वस्तु के रूप में स्थापित हो रही है और साहित्य तथा संस्कृति की उत्पाद के रूप में। ग्लोबलाइजेशन तमाम आंचलिक विशेषताओं को निगलता जा रहा है। अपनी अस्मिता को अपनी ही भूमि पर बचाने का प्रयास वैसा ही नहीं होता, जैसा 'डायस्पोरा साहित्य' में कई बार रूढ़ियों को बंदरिया के मृत बच्चे की तरह छाती से चिपटाने के प्रयास के रूप में

देखा जाता है अपितु नवगीत ने जातीय अस्मिता के सवाल को भिन्न रूप में देखा है। यहाँ तक कि बाज़ारवाद की वर्तमान आँधी में विश्वग्राम के 'हिडन एजेंडा' के माध्यम से होने वाले आर्थिक शोषण को भी उसने पहचाना है। गुलाब सिंह, अनूप अशेष और कैलाश गौतम के गाँव आज शोषण और विकृति से घिर कर कैसे होते जा रहे हैं, उनकी चिन्ता के बहुत से पक्ष जातीय अस्मिता से ही जुड़े हैं। विशेष यह है कि विश्वग्राम के एकरूपता वाले इस खतरे को हिन्दी साहित्यकारों ने जब पहचाना, उससे पहले से ही नवगीत इसकी ओर ध्यान दिलाता रहा है।

जातीयता की अभिव्यक्ति की दो दिशाएँ होती हैं-- प्रकृति और संस्कृति। प्रकृति का आगामी विस्तार लोक-चेतना, आंचलिकता और दृश्यात्मक प्रकृति में होता है, संस्कृति की व्याप्ति सामाजिक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, लोकाचारों में, उत्सवों-पर्वों में तथा जीवन-मरण के अनेक प्रसंगों में होती है। सन् '४३ के बाद का 'नयी कविता' का आंदोलन एक कृत्रिम अन्तर्राष्ट्रीयता के दावे के साथ कविता को परम्परा और संस्कृति से काट देता है और साहित्य में जातीय अस्मिता लुप्त होती नजर आती है। इसीलिए डॉ. शंभुनाथ सिंह नवगीत के स्वरूप की व्याख्या करते हुए सर्वाधिक बल जातीय अस्मिता पर ही देते हैं। 'नवगीत दशक-दो' की भूमिका में वे लिखते हैं-- "नवगीत आधुनिकतावादी कविता है, किन्तु वह आधुनिकता को सार्वभौम और सार्वकालिक नहीं बल्कि देश-काल-सापेक्ष मानता है। अतः आधुनिकता भारतीय परिप्रेक्ष्य वाली विशिष्ट आधुनिकता है... नवगीत भारत की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाली कविता है... यह लोकधर्म और लोकाश्रयी कविता है, यह नयी कविता की तरह गिने-चुने अभिजात जनों (एलीट) की कविता नहीं है... नवगीत इस अर्थ में भी भारतीय कविता है कि वह अपने देश की ज़मीन और सामान्य जनता से जुड़ा है। उसकी जड़े गहरायी तक भारतीय जनजीवन में घुसी हैं। वह देश की आंचलिक संस्कृति और विभिन्न क्षेत्रों की लोकधर्मिता को अपना उपजीव्य बना कर आदिम बिम्बों की सृष्टि करता है और इस तरह भारतीय अस्मिता को उजागर करता है। फलतः वह नयी कविता की भाँति विदेशों से आयातित कविता नहीं बल्कि भारतीय मिट्टी की बहुविध रस-गन्ध में रची बसी देसी कविता है।"

नयी कविता के बाद धूमिल आदि के माध्यम से हिन्दी कविता आर्थिक स्तर पर भारतीय सन्दर्भों की ओर मुड़ती जरूर है परन्तु क्रमशः अपने वक्तव्य-प्रधान स्वरूप में वह अनुभव और चेतना के स्तर पर जनजीवन से

नहीं जुड़ पाती। बाद में तो संप्रेषण की विकलांगता ने कविता के अस्तित्व को ही संकटग्रस्त बना दिया है। समकालीन कविता का बहुलांश ऐसा है, जिसमें ऋतुएँ गायब हैं, गाँव अनुपस्थित हैं, प्रकृति का दूर-दूर तक अस्तित्व नहीं, लोक-भाषा की ऊष्मा नहीं, जिसका उत्सव-धार्मिता से कोई नाता नहीं, जबकि नवगीत या तो इन स्थितियों के माध्यम से जन के मन से जुड़ा है अथवा उसने इनकी अनुपस्थिति से उत्पन्न हुए शून्य को रेखांकित किया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नवगीत 'बारहमासा' या 'कैलेंडर-गाथा' है अथवा यह प्रगति-विरोधी है। स्थिति इससे भिन्न है। यह सही है कि नवगीत में जातीय अस्मिता के चित्रण के सन्दर्भ में अकसर अतीत उभरा है, अकसर कवि नोस्टैल्जिक भी हुए हैं, अकसर इसमें पुरा-बिम्बों का प्रयोग हुआ है, अकसर भारतीय मिथक वर्तमान के चित्रण के लिए आए हैं परन्तु ये स्थितियाँ इसी प्रकार प्रगति-विरोधी नहीं हैं, जिस प्रकार मिथकों के प्रयोग से त्रिलोचन जन-कविता के लिए अछूत नहीं हो जाते। जब नवगीतकार यह कहता है- 'ये शहर होते गाँव पहचाने नहीं जाते' तो इसका अर्थ यह नहीं है कि नवगीत विकास का विरोध कर रहा है। यहाँ तो संकेतित विकृतियों का ही, उल्लेख प्रासंगिक है। गुलाबसिंह गाँव की इस सांस्कृतिक शाश्वता को यदि यों रेखांकित करते हैं:

जलती यहाँ वहाँ बुझ जाती
आँच अलावों की
गोरी कभी साँवली दिखती
काया गाँवों की
तो वे उसके अन्तहीन शोषण का इतिहास भी तो
इस रूप में लिखते हैं:

शब्दों के हाथी पर
ऊँघता महावत है,
गाँव इधर
लाठी और भैंस की कहावत है
शीत-घाम का वैभव,
रातों का अंधकार,
पकते गुड़ की सुंगंध
धूल धुएँ का गुबार,
पेट-पीठ के रिश्ते
ढो रहा यथावत है

यह सही है कि नवगीत में 'पिछले दिन' है अर्थात् 'छूटे हुए अतीत की कचोट' कुछ ज्यादा ही है। परन्तु क्या यह स्मृति-उद्वेग कुछ टूट जाने, कुछ छूट जाने के कारण नहीं है? यह टूटना और छूटना क्या मनुष्यता का ही नहीं है? इसके

बावजूद कुछ फार्मूलबद्ध नवगीतकारों को एक नकली विलाप करते भी देखा जा सकता है। देश-काल की विभीषिका से आँख चुरा कर अतीतमोह की माँद में छिपने वाला कलमकार साहित्य को वरेण्य नहीं दे सकता। यों बात केवल अतीत की नहीं है। आशंकाएँ भविष्य को लेकर भी हैं। नवगीत जब जीवन में जातीय अस्मिता को अनुपस्थित पाता है तो चिंतित होकर सत्यनारायण के शब्दों में कह उठता है:

एका, आने वाला है कल समय कठिन
खेल खिलौने नहीं रहेंगे
रोबट होगा
जल के प्लावन में डूबा
अक्षय वट होगा
नहीं दिखेंगे कूल किनारे
नहीं पुलिन
दाँत समय के होंगे
ज्यादा ही पैने
बिखरे होंगे तोते मैनों के डैने
नहीं रहेंगे कथा कहानी वाले दिन
किलकारी पर कलरव पर
पहरे होंगे
मृग छेने सहमे ठिठके
ठहरे होंगे,
होंगे नहीं कुलौचें भरते हुए हिरन
नवगीत को केवल अतीत-चर्चा मानने वाले 'सुधी
जनो' को उस त्रासदी को भी समझना होगा, जिसे आज का
सामान्य जन झेल रहा है। उसकी तो यह भी विडम्बना है कि
पीछे लौटने का उसके पास विकल्प ही नहीं रह गया:

अब पीछे लौटना असंभव है
हम ने हर पिछला पुल तोड़ दिया
माना आगे जलता जंगल है
पीपल की भी ठंडी छाँह नहीं
इन सूनी अँधियारी रातों में
थामेगा अब कोई बाँह नहीं
जिस पथ पर अभिशापित उत्सव है
हमने वह पथ कब का छोड़ दिया। (योगेंद्रदत्त
शर्मा)

नवगीत में जातीय अस्मिता की चर्चा के साथ कुछ और भी खतरे भी जुड़े हैं। उनके प्रति हमें सावधान रहना होगा। उत्सवों, पर्वों, पुरा-सन्दर्भों, इतिहास-प्रकरणों आदि के उल्लेख के आधार पर इस जातीय अस्मिता को साम्प्रदायिक

संकीर्णता के साथ रखकर देखने की चूक का अंदेसा बना रहता है। नवगीत न केवल 'सेक्यूलर' काव्य है अपितु यह हर तरह की साम्प्रदायिकता का विरोधी भी है। हमने पहले ही कहा था कि राजभक्ति की पर्याय राष्ट्रभक्ति नवगीत में नहीं है। है, तो बस देश-प्रेम और यह देश-प्रेम उसके अनुभव का अंग है, पचास वर्षों की हिन्दी की छन्दमुक्त कविता में अधिकांशतः देश का 'एरियल सर्वे' ही मिलता है पर नवगीत ने भारत को पैदल चल कर ही जाना-पहचाना है। वह बाबा आमटे का आदर्श प्रस्तुत करता है। नईम का मालवा उनके गीतों में सप्राण रूप में उपस्थित है। वंशी और मादल में ठाकुर प्रसाद सिंह ने संधाल परगना को जीवंत कर दिया है। अनूप अशेष और श्याम सुंदर दुबे ने यदि अपने अंचल के गाँवों के जीवन की एक तस्वीर प्रस्तुत की है तो गुलाब सिंह के गीत इन कवियों की फोटोकॉपी नहीं हैं, बल्कि पूर्वांचल की अलग तस्वीर उनमें है। जनपरक गीतों में भी रमेश रंजक, नचिकेता या शांति सुमन के गीत भी एक दूसरे का दोहराव नहीं हैं। महेश अनघ का लोक अपनी तरह की मौलिकता लिए है। सत्यनारायण और माहेश्वर तिवारी ने वर्तमान की जटिलताओं के समानान्तर जातीय अस्मिता को प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि इनकी अग्रज पीढ़ी के नवगीतकारों में यदि 'पुरवैया धीर बहो' जैसे गीतों में लोक का एक विशिष्ट रूप शंभुनाथ सिंह प्रस्तुत करते हैं तो वीरेन्द्र मिश्र सागर-संस्कृति का एक दूसरा ही लोक प्रस्तुत करते हैं। देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के गीत पुराबिम्बों का बेजोड़ वैशिष्ट्य लिए हैं, तो शिव बहादुर सिंह भदौरिया जन-संवेदना को अपनी तरह से साकार करते हैं। कैलाश गौतम ने अपसंस्कृति के गांव को प्रस्तुत किया है यश मालवीय का छोटी-छोटी घटनाओं वाले दैनिक जीवन से जुड़ा अपना सांस्कृतिक बोध है। भारतेन्दु वर्तमान को अलग तरह से जन-साक्षेप बिम्बों में प्रस्तुत करते हैं। समग्रतः नवगीत संस्कार का काव्य है और इसके लिए वह शर्मिदा नहीं है। स्वर्गीय उमाकांत मालवीय ने लिखा था "अपने एकांत क्षणों में मैं बहुधा बड़े खेद से अनुभव करता हूँ कि मेरी पीढ़ी संस्कारों से अपेक्षाकृत बहुत ही विपन्न है..."। मालवीय जी की यह खिन्नता तत्कालीन नयी कविता के सन्दर्भ में सही है पर उन्होंने जिस परम्परा से अपने को जोड़ा था, उस नवगीत-धारा में संस्कार-जन्य जातीय अस्मिता के काव्य को ही प्रमुखता मिली है। उल्लेखनीय यह है कि यह संस्कारिता सांप्रदायिक शक्तियों के साथ नहीं खड़ी है। गत दो दशकों में राष्ट्र साम्प्रदायिकता और आतंकवाद के तीखे दंशों को झेलता रहा है। नवगीत काव्य में इन सन्दर्भों को जिस शिद्दत के साथ चित्रित किया है, वह उसकी युगबोध की

सजगता का प्रमाण है। बाज़ारवाद हो या भूमंडलीकरण, स्त्री-विमर्श हो या दलित विमर्श, उत्तर उपनिवेशवाद हो या उत्तर आधुनिकता, नवगीत में न तो खोल में छिपने की स्थिति है, न दृष्टिभ्रम की। नवगीत की पलायन-विरोधी संघर्षशील प्रवृत्ति के दर्शन इसकी सहवर्ती धारा जनगीत में होते हैं जो खेल-खलिहान में किसान के संघर्ष के माध्यम से जातीय अस्मिता को चित्रित करती है।

कविता में जातीय अस्मिता की अभिव्यक्ति को लेकर एक सवाल यह उठाया जा सकता है कि उत्तर आधुनिक युग में जब 'इतिहास' और 'परम्परा' ही अप्रासंगिक हो गए हैं, यहाँ तक कि विचारधाराओं के स्थगन के साथ विचार का भी अन्त हो गया है, तब स्मृति-आश्रित जातीय अस्मिता की क्या प्रासंगिकता है? एक स्मृति-भ्रष्ट राष्ट्र की दानवीयता और नृशंसता हम इराक-युद्ध में देख चुके हैं। जब-जब हम सह-अस्तित्व के इतिहास की उपेक्षा करते हैं, तभी ऐसी स्थितियाँ पैदा होती हैं, जिसे समय के सन्दर्भ में गवाही देते हुए गहरे दुःख के साथ नईम ने रेखांकित किया है:

प्यार से मिलते हुए दिन
ईद से उत्सव कभी
आज बल्लुम बछियों से
भेंटते मुझको सभी

नवगीत ने अन्तरराष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय सन्दर्भों में स्मृति-भ्रष्टता से उत्पन्न ऐसी स्थितियों की ओर यदि ध्यान आकर्षित किया है तो इसे हिन्दी कविता की उपलब्धि ही माना जाना चाहिए। इतिहास और परम्परा की हत्या के क्रम में हमारी भाषाओं और बोलियों को दफन करने का जो अन्तरराष्ट्रीय षड्यंत्र है, नवगीत ने उसका भी प्रतिरोध किया है। ओसारा, डीह, मसुरी, माँडने कढ़ा, शिकनी, जोतदार, सूप, निबौरी, उज्जर-बाजर, दिया-देवी, बंसवारी, उजरौटी, पाग, छानी-छप्पर, टेंट, खपरैल, मड़ैया, टूसे, जोन्हा, पोथी, कजरी, चैता, बिरहा, क्वार, बासन जैसे हजारों ऐसे शब्द हैं, जिनमें लोक की संवेदनाएँ धड़कती हैं, जिनके मरने से कविता की जन-संवेदनाओं को व्यक्त करने की शक्ति ही खत्म हो जाएगी। नवगीत ने ऐसे असंख्य शब्दों को जिंदा रखा है। इसी प्रकार मिथक कविता को अर्थगत बहुस्तरीयता प्रदान करते हैं। नवगीत की भाषा में मिथकीय तत्त्वों का प्रयोग जातीय अस्मिता का एक और रूप प्रस्तुत करता है।

नवगीत की जातीय अस्मिता के सन्दर्भ में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि शायद ही आधुनिक हिन्दी कविता की किसी अन्य काव्य-सरणी में नदी के रूपक का

इतना सार्थक प्रयोग हुआ है, जितना नवगीत में। भदौरिया जी चाहते हैं 'नदी का बहना मुझमें हो', वीरेन्द्र मिश्र सावधान करते हैं 'नदी के अंग कटेंगे तो नदी रोएगी', इन्द्र जी अनुभव करते हैं 'नदी की देह में छाले पड़े', माहेश्वर तिवारी नदी के अकेलेपन को महसूसते हैं। प्रस्तुत लेखक की चिंता है: 'कर कतु नदी का/ ध्येय सदी का/ फ़ैलना बस रेगिस्तान', यश कहते हैं 'सब नदियां अपनी गहराई में रोती हैं', निराला ने कहा था: 'नद के उदार घटे', कैलाश महसूसते हैं 'ओझल नदी के कूल से हम छू गए', श्रीकृष्ण को दूध की नदी के जहर होने का मलाल है, कुँवर बेचैन कुहरे भरी नदी में मां की काया को देखते हैं, शंभुनाथ जी ने अनुभव किया था: 'जहाँ बह रहा है नदियों में फ़ौलाद', सत्यनारायण नदी-सा बहता हुआ दिन तलाश रहे हैं, विद्यानंदन राजीव बहती गर्म नदी की दहकते सूरज के बीच की विडम्बना को प्रस्तुत करते हैं। योगेन्द्रदत्त शर्मा को लगता है- 'घायल सीने को सहलाता/ सिसक रहा है पाट नदी का', जहीर कुरेशी की पीड़ा है- 'फिर नदी की देह पर हमले हुए फिर नदी रोने लगी मैदान में' विनोद श्रीवास्तव कहते हैं-'आज नदी में पाँव डुबोते याद हमें किरणों की आई'। वास्तव में एक शाश्वती परम्परा ही यह नदी है। जातीय अस्मिता में उसी शाश्वती परम्परा का अस्तित्व है और नवगीतकार तमाम सवालों से टकराता हुआ, वर्तमान के सारे संकटों से भेंटता हुआ, अपने वक्त के रूबरू खड़ा होकर जो लड़ाई लड़ रहा है, उसमें इस परम्परा की प्रेरक नदी का होना जरूरी है। कृष्ण बक्षी के शब्दों में कहें- 'गढ़ सके तो गढ़/ बुन सके तो बुन/ एक भाषा है नदी की।'

यों तो समकालीन हिंदी कविता में नवगीत की उपलब्धि के अनेक पक्ष हैं, जातीय अस्मिता का प्रभावपूर्ण चित्रण भी इसकी उपेक्षा को असंभव बनाता है।

राजेन्द्र गौतम,

९०६ झेलम प्लॉट: ८, सेक्टर: ५ द्वारका,

नई दिल्ली-११००७५,

मो. ९८६८१४०४६९.

rajendragautam99@yahoo.com

हमारे युग का नायक

डॉ. राजकुमार

प्रोफेसर, हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी

हरिचरन प्रकाश का उपन्यास पढ़ तो बहुत पहले लिया था। इस पर लिखना है, यह निश्चय भी पढ़ने के दौरान ही कर लिया था। लेकिन चाहकर भी लिख नहीं पा रहा था। कारण यह था कि इस उपन्यास में इतने स्तर हैं और इन स्तरों की अर्थ-ध्वनियाँ इतनी वैविध्यपूर्ण हैं कि उन्हें एक 'सुसम्बद्ध अर्थ-व्यवस्था' में बांधने की जब जब कोशिश करता, लगता कि कुछ छूट रहा है, कुछ ऐसा है जो इस व्यवस्था को विखण्डित कर रहा है। जैसे कोई चीज़ हाथ में आते-आते फिसल जाय। कुछ ऐसी खीझ होती जैसी बार-बार जाल फेंकने पर भी मछली के न फंसने पर मछुवारे को होती होगी। वैसे भी रचना के सरोवर में अर्थ-मीन का अनुसंधान करने के सिवा आलोचना है ही क्या?

इस उपन्यास की कथा भूमि टीकापाली है। टीकापाली अयोध्या और फैजाबाद के बीच पड़ने वाला एक मामूली सा कस्बा है। इसके ज्यादातर पात्रों की कर्मभूमि भी यही है। यह अवश्य है कि इसके केन्द्रीय पात्र भवनाथ का समूचा जीवन इस कस्बे में नहीं बीतता। उसका जन्म जरूर यहीं होता है। ऐसा मान लिया है कि भवनाथ का जन्म उसी दिन हुआ जिस दिन गांधी की हत्या हुई। मुंशी लालता प्रसाद गांधी की हत्या और भवनाथ के जन्म की सूचना भवनाथ के पिता को एक साथ देते हैं। भवनाथ की बरही और गांधी की तेरही आगे पीछे पड़ती हैं। भवनाथ की दादी पोते के जन्म के कारण गांधी की मृत्यु का शोक नहीं मना पाती।

लेखक ने भवनाथ के चरित्र को जिस तरह गढ़ा है, उसकी झलक उपन्यास में दर्ज इस कथन में देखी जा सकती है: 'यह तो कोई बात नहीं हुई कि जीता जागता आदमी साहित्य के फ्रेम में फिट कर दिया जाय, जबकि वहां कोई आइना ही लग सकता है। तो इस प्रकार और इसलिए मैंने भवनाथ को गढ़ना शुरू किया।' इस गढ़न्त से उसके व्यक्तित्व की कुछ प्रवृत्तियों का पता चलता है। जैसे, भवनाथ की राजनीति में कोई रुचि नहीं है। भवनाथ न तो प्रेम की रक्षा कर पाता है न ही प्रेमिका की। भवनाथ को न तो समाज से कोई उम्मीद है और न ही वह चाहता है कि समाज उससे कोई उम्मीद रखे। अकारण नहीं है कि न तो आपातकाल की खबरों और बहसों में और न ही बाबरी मस्जिद गिराये जाने सम्बन्धी विवाद में वह कोई दिलचस्पी लेता है। वह सुर के संसार में है 'जहां न कोई राजा है न रंक, न कोई प्रगतिशील और न प्रतिक्रियावादी। उसके लिए संगीत एक पवित्र कला है जिसका कोई सामाजिक कोण नहीं।'।

लेखक ने इस उपन्यास में इस तथ्य का जिक्र किया है कि फैजाबाद की पुरानी जनगणना में गंधर्व जाति के उन्तालीस लोगों का उल्लेख है। किन्तु १९९२ तक आते-आते उनकी संख्या समाप्त हो जाती है। लेखक ने भवनाथ का सम्बन्ध इसी गंधर्व जाति से जोड़ दिया है। और गंधर्व का दुःस्वप्न वास्तव में स्वाधीन भारत के दुःस्वप्न का रूपक बन जाता है।

इस उपन्यास की रीढ़ है भवनाथ का चरित्र। भवनाथ का जन्म उसी दिन होता है जिस दिन गांधी की मृत्यु होती है। गांधी की मृत्यु से लेकर बाबरी मस्जिद गिराये जाने तक के घटना-क्रम के टुकड़े भवनाथ-वृक्ष के तने के इर्द-गिर्द जड़ दिए गए हैं। उपन्यास का मकसद इस दौर के इतिहास को आख्यान में तब्दील कर देने का नहीं है, बल्कि वह यह देखना चाहता है कि इस समूचे घटनाक्रम में लेखक, कवि, कलाकार, बुद्धिजीवी की उपस्थिति और भूमिका क्या थी और आगे क्या हो सकती है। भवनाथ वस्तुतः इसी लेखक कलाकार बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र और भूमिका को देखांकित करने वाला रूपक है, जिसे उपन्यासकार ने गन्धर्वी की परम्परा से जोड़ दिया है। वैसे जाति से भवनाथ ब्राह्मण-शुक्ल हैं और उनका गन्धर्वी से कोई सीधा सम्बंध नहीं बनता, किन्तु अपने कर्म और व्यक्तित्व के कारण वे गन्धर्व परम्परा के अनुयायी लगते हैं। वे न केवल इसराज नामक लुप्तप्राय वाद्ययंत्र बजाते हैं बल्कि उनके व्यक्तित्व में ऐसी स्त्रैणता है जो किसी 'पुरुष' में प्रायः नहीं होती।

उपन्यास का इरादा रहा हो या न रहा हो, किन्तु गांधी की हत्या के दिन ही भवनाथ का जन्म दिखाकर उसने यह संकेत उपन्यास के प्रारंभ में ही दे दिया है कि भारतीय इतिहास का एक दौर खत्म हुआ और दूसरा दौर शुरू हुआ। दूसरे दौर का नायक भवनाथ है। भवनाथ एक ऐसा चरित्र है जो सहृदय है किन्तु उसमें साहस और दृढ़ता का अभाव है। इस दृष्टि से भवनाथ के लिए गन्धर्व शब्द का प्रयोग बहुत ही व्यंजक और सटीक है। वस्तुतः गांधी के बाद की समूची पीढ़ी ही गन्धर्व है जिसे कला, साहित्य और बौद्धिकता से लगाव तो है लेकिन जिसमें गांधी जैसा साहस और दृढ़ता नहीं है। गन्धर्व का लोक-प्रचलित अर्थ एक ऐसा जाति से है जो पुंसत्वहीन है और जो किसी नये को जन्म नहीं दे सकती है। विडम्बना यह है कि जीवन की सबसे कोमल मानवीय संवेनाओं को वहन और संरक्षित करने वाला यह वर्ग वास्तव में कुछ नया सृजित या रच पाने में असमर्थ है- जैविक रूप से ही नहीं साधना के स्तर पर भी। एकाधबार उसे ऐसा भ्रम ज़रूर होता है कि उसने चमत्कारिक सिद्धि अर्जित कर ली है।

विद्वानों ने लक्ष्य किया है कि भारतीय परम्परा में मुक्ति के लिए सांसारिकता से विमुखता न सही, सांसारिकता

से ऊपर उठना आवश्यक माना गया था। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत वस्तुतः सांसारिकता से क्रमशः ऊपर उठने की प्रक्रिया को ही उद्घाटित करता है। इसीलिए उसका समापन शान्ति या शून्य में होता है, जहाँ सभी प्रकार के अन्तर्विरोधों का शमन हो जाता है। गांधी की खूबी यह है कि उन्होंने मुक्ति के लिए सांसारिकता से ऊपर उठने की परिकल्पना को कायम रखा किन्तु यह भी कहा कि सच्ची मुक्ति सांसारिक समस्याओं से विमुख रहकर नहीं मिल सकती। संक्षेप में, उन्होंने मुक्ति की अवधारणा को सांसारिक समस्याओं के समाधान से जोड़ दिया। गांधी के बाद ही पीढ़ी की विडम्बना यह है कि जिन लोगों ने सांसारिक समस्याओं के समाधान को कोशिश की, उनमें मुक्ति की कोई ऐसी परिकल्पना नहीं थी जिसके सामने सांसारिक सुख तुच्छ लगने लगे; और जिन लोगों के पास सांसारिकता से ऊपर उठने की सामर्थ्य थी, उनमें सांसारिक समस्याओं के समाधान की ओर प्रवृत्त होने की क्षमता ही नहीं थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि भवनाथ ऐसे ही लोगों का प्रतिनिधि है।

गांधी ने ऐसे व्यक्ति की परिकल्पना की थी जो सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के समाधान के प्रति सक्रिय होने के बावजूद पद-प्रतिष्ठा और भौतिक समृद्धि को अपने जीवन का सवीच्य पुरुषार्थ नहीं मानता था। किन्तु परवर्ती राजनीतिज्ञों के जीवन का यही सवीच्य पुरुषार्थ बन गया। लेखक-बुद्धिजीवियों-कलाकारों में तो यह आदर्श कमोबेश बचा रहा किन्तु विडम्बना यह कि उनमें वैसी सकर्मकता नहीं थी जैसी किसी भी सार्थक परिवर्तन के लिए जरूरी होती है। भवनाथ ऐसे ही कलाकार बुद्धिजीवी-लेखक का कैरीकेचर है।

गांधी के बाद भारतीय सभ्यता के सवीत्तम के वारिस कवि-लेखक-कलाकार बुद्धिजीवियों की स्थिति इस उपन्यास के तर्क से भवनाथ से बेहतर नहीं है। उनमें अनीति का प्रतिकार करने की सामर्थ्य नहीं है। वे अधिक से अधिक नपुंसक आक्रोश में हवा में मुट्टियां भांज सकते हैं। सच तो यह है कि उनमें अपनी कला के प्रति आधुनिकतावादियों जैसा गहरा लगाव और उसे सामाजिक प्रदूषण से मुक्त रखते हुए एक स्वायत्त कलात्मक दुनिया निर्मित करने की दृढ़ता भी नहीं है। उपन्यास के अपने तर्क के मुताबिक वह सिर्फ साक्षी होने के लिए अभिशप्त है। और यह साक्षी भी सर्वथा निष्कलुष साक्षी नहीं है। वस्तुतः लेखक ने उपन्यास

के शुरुआत में ही यह संकेत दे दिया है कि यह असहाय इन्तजार की कहानी है, जिसमें 'नायक' तूफान के गुजर जाने का इन्तजार एक निःसहाय साक्षी की तरह करता है। उपन्यास की प्रारंभिक पंक्तियां देखें: 'भवनाथ शुक्ल जब मुझसे पहली बार मिले तो उस समय मैं कमरे में बैठा पूरी सतर्कता के साथ एक बरैये का उत्पात देख रहा था। वह चाहता तो उसी खिड़की से होकर बाहर जा सकता था जिससे शायद वह अन्दर आया था। लेकिन वह स्वेच्छाचार पर आमादा था। मैं असहायपूर्वक उसके निकलने की प्रतीक्षा कर रहा था।'

असहायता और प्रतीक्षा संभवतः इस उपन्यास के बीज-शब्द हैं। भवनाथ बुराई के सामने स्वयं को असहाय पाता है और प्रतीक्षा करने के सिवा कुछ नहीं कर पाता। वह सुचरिता से प्रेम करता है किन्तु गुंडों से घिरने पर जान बचाने के लिए उसे अपनी 'सिस्टर' घोषित कर देता है। धीरे-धीरे उसे यह बात समझ में आती है कि 'वीरता उसका गुण नहीं है।' 'पिटने-पीटने से बचने के कारण' उसे सुचरिता गंवानी पड़ी थी। लेकिन फिर भी पिटने से नहीं बच पाया। कॉलेज में नौकरी करते हुए नकल रोकने पर लड़के के हाथों पिटा।

भवनाथ और उसकी संगीत-साधना के बारे में लेखक ने लिखा है कि 'जैसे चौराहे के मकान का वाशिन्दा अपने इर्द-गिर्द के शोर को सुनते हुए भी नहीं सुनता उसी तरह से भवनाथ खबरों और बहस-मुबाहिसों को सुनकर भी नहीं सुनता था।.....वह सुर के संसार में था, जहां न कोई राजा है और न रंक, न कोई प्रगतिशील और न प्रतिक्रियावादी। संगीत एक पवित्र कला है जिसका कोई सार्वजनिक कोण नहीं है।'

अन्यत्र लेखक ने स्पष्ट किया है कि भवनाथ किसी के साथ नहीं है। किसी के साथ न रहकर भी सुरसाधना संभव है क्योंकि इसमें 'विचारों और वाक्यों' की ज़रूरत नहीं होती। इस लिहाज से वह आराम में था। लेकिन मुसीबत यह है कि उसे 'संगत' करनी पड़ती है, 'एकल प्रस्तुति का मौका कम ही मिलता है।' इस 'संगत' का ही नतीजा है कि वह न केवल आपात्काल के दौरान बीस सूत्रीय कार्यक्रम के प्रचार हेतु सभा में इसराज बजाता है बल्कि घाट पर आयोजित 'सेकुलर' जलसे में भी अपनी संगीत-साधना का प्रदर्शन करता है। यही नहीं, 'मस्जिद' गिराने वाले हुजूम में यदि

वह नहीं शामिल हुआ तो किसी सेकुलर प्रतिबद्धता के कारण नहीं, बल्कि डर के कारण। टामस मान की कहानी 'टोनियो क्रोजर' की तरह वह जिन्दगी को खिड़की से देखकर लौट जाने वाला साक्षी नहीं, जिन्दगी में लिथड़ा हुआ साक्षी है। किसी के भी साथ न रहकर सुर-साधना करने वाला भवनाथ प्रकारान्तर से सबके साथ होने के लिए अभिशप्त है। उपन्यास के आखिरी पन्ने पर ज़रूर संगीत-साधना के प्रति उसकी गहरी संलग्नता का बोध होता है: 'इसराज बजाने से पहले वह उसे कुछ देर सम्मोहित करने की चेष्टा करता है कि शायद कभी वह अपने आप बज जाय। हृदय की तरंगों से, अदृश्य उंगलियों से।' किन्तु समूचे उपन्यास में इस चेष्टा का कोई ठीक-ठाक 'कोरिलेटिव' मौजूद नहीं है। इसीलिए इसका वैसा गहरा असर नहीं होता, जैसा 'कोरिलेटिव' के होने पर होता। इसराज को सम्मोहित करने की चेष्टा और एकल प्रस्तुति की तमन्ना भवनाथ में किसी गहरे नैतिक संकट को जन्म नहीं देती। शायद यह कहना ज्यादा सही होगा कि ऐसे संकट के सम्पन्न होने के ऐन मौके पर ही उपन्यास खत्म हो जाता है। कदाचित् हमारे युग का नायक वही है। एक ऐसा युग जिसमें असामाजिक तो शूरवीर है और सामाजिक कायर। भवनाथ भी एक सामाजिक कायर है।

जैसा कि प्रारंभ में ही कहा गया यह उपन्यास गांधी की मृत्यु से लेकर बाबरी मस्जिद गिराए जाने तक के समूचे घटनाक्रम को स्पर्श करता है, उसके कुछ टुकड़े सामने लाता है। ये टुकड़े तस्वीर के उस दूसरे पहलू को दिखाते हैं जहां राजनीतिक सक्रियता तो है किन्तु कोई उच्चतर आदर्श नहीं है। किसी भी तरह सत्ता-सुख पा लेना ही अंतिम लक्ष्य है। इस दो फांक हो गई जिन्दगी की विडम्बना को बिना किसी मुरब्बत के, राजनीतिक रूप से सही होने की परवाह किए बगैर, उपस्थित कर दिया गया है।

उपन्यासकार ने हिन्दू साम्प्रदायिकता की आलोचना करने के साथ सेकुलर साम्प्रदायिकता विरोधियों की भी अच्छी खबर ली है। एक नमूना देखें: 'अयोध्या में कला और संस्कृति की उल्टी बयार बहने लगी। सही किस्म की सहमति कि लिए प्रतिबद्ध एक सांस्कृतिक संगठन ने एक ऐसी प्रदर्शनी आयोजित की जिससे यह ज्ञान उदघाटित हुआ कि राम और सीता केवल भारत के ही नहीं वरन् वृहत्तर भारत के हैं। पति-पत्नी होने के अलावा वह खंड-खंड साहित्य के

किसी अन्य खंड में भाई-बहन भी हैं। इस कारनामों के चलते शूर धर्म प्राण ने तो त्रिशुल ही उठा लिया, भीरू धर्म प्राण भी इतनी जोर से असहमत हुए कि यह तम्बू लगाने ही उजड़ गया। जो लोग सहज रूप से धर्मनिरपेक्ष थे वे भी इस प्रदर्शनी से हतप्रभ रह गए। इस प्रदर्शनी का उद्देश्य केवल आत्म-मुग्ध और व्यावसायिक धर्म-निरपेक्षियों को ही समझ में आया।'

असल में हिन्दू साम्प्रदायिकता के बड़े सच के साथ-साथ मुस्लिम साम्प्रदायिकता के छोटे सच की भी आलोचना करने की ज़रूरत थी। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के सच पर परदा डालने की अवसरवादी राजनीति ने प्रकारान्तर से हिन्दू साम्प्रदायिकता को मज़बूत किया: 'इस सच के विरुद्ध धर्म-निरपेक्षी जितना झूठ गढ़ेंगे उतना ही पस्त होंगे।'

हरिचरन प्रकाश एक सचेत कथाकार हैं और उन्हें मालूम है कि पात्र और कथानक गढ़े जाते हैं, भले ही उन्हें यथार्थ के रूप में पेश किया जाय। वे लिखते हैं: 'मैंने भवनाथ को गढ़ना शुरू किया। भवनाथ का सच क्या है मुझे पता नहीं, लेकिन जो गढ़ा हुआ है वह भी सम्भवतः जीवन है, माया की माया!' उन्हें यह भी मालूम है कि सिर्फ घटनाक्रमों के उल्लेख से कहानी नहीं बन जाती। मजा तो तब आता है जब किसी घटना को कहानी की तरह कहा जाय। कहने की ज़रूरत नहीं कि, घटना को कहानी की तरह कहने की कला उन्हें सिद्ध है। घटना को कहानी की तरह कहने की उन्होंने कुछ नायाब तरकीबें भी निकाली हैं: 'अभी बहुत साल बाकी हैं जब नये भारत का नया पूल सरयू पर बनेगा और पीपे का पुल आखिरी बार बनकर खुलेगा। उस साल भवनाथ हाईस्कूल पास करेगा और साइकिल चलाते हुए ननिहाल जायेगा। कभी कभार वह बीच में रुकेगा, नदी की ओर जाती पक्की सीढ़ियों पर साइकिल को सीढ़ी के अभाव में खड़खड़ाते हुए नीचे उतरेगा। बैठ जायेगा नदी में डुबी पहली सीढ़ी पर, और नदी के विश्वास से अपनी सांस भरेगा।'

यह ज़रूर है कि कई बार बहुत व्यंजक प्रसंगों को भी चुहलभरी भाषा में सिर्फ जिक्र करके छोड़ दिया गया है। यह सही है कि पात्रों के सहारे अपनी कहानी कहने वाला उपन्यास यह नहीं है फिर भी यदि कुछ प्रसंगों को सिर्फ कहने के बजाय दिखाया गया होता तो प्रभाव बढ़ जाता। हरिचरन प्रकाश की विशिष्ट भाषा के बारे में बहुत सारे

लोग लिख चुके हैं, उसे यहां दुहराने की ज़रूरत नहीं। स्वयं प्रकाश की यह बात बिल्कुल सही है कि ज्ञानरंजन के बाद सर्वाधिक निजी ठप्पेदार गद्य लिखने वालों में विनोदकुमार शुक्ल और हरिचरन प्रकाश का ही नाम आता है। हरिचरन प्रकाश की यह विशिष्ट चुहलभरी भाषा ही उनके उपन्यास को थामे हुए है, जिसकी वजह से सामान्य वर्णन और घटनाक्रमों का उल्लेख भी मजा देता है। फिर भी यदि शब्दाश्रित नाट्य को थोड़ा और कम कर दिया जाता और सूच्य घटनाक्रमों को नाटकीय बना दिया जाता तो उपन्यास का कलेवर ही नहीं प्रभाव भी बढ़ जाता। और फिर पाठक को यह शिकायत करने का मौका नहीं मिलता कि समूचा उपन्यास प्रायः एक समान सतह पर चलता क्यों प्रतीत होता है। यह ज़रूर है कि लेखक ने यथार्थवादी प्रविधि की लकीर पीटने के बजाय नये ढंग से उपन्यास लिखने का साहस दिखाया है और इस प्रयास में कमोबेश सफल हुआ है। गांधी की हत्या के बाद भारतीय समाज में पतन के जिस सिलसिले की शुरुआत होती है, उसकी तार्किक परिणति बाबरी मस्जिद गिराए जाने में होती है। भारतीय समाज और राजनीति के इस क्रमिक क्षय को यह छोटा सा उपन्यास जिस खूबी और गहराई से पकड़ता है उसके सामने विशालकाय चर्चित उपन्यासों की चमक फीकी लगती है।

नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है कि 'पहले ही उपन्यास में भाषा का जो स्तर लेखक ने प्राप्त कर लिया है वह काबिले तारीफ है।.....श्री लाल शुक्ल की प्राख्यात कृति रागदरबारी के बाद उसी तरह की व्यंग्य की भाषा में लिखा गया यह दूसरा उपन्यास है।.....।..... भाषा के अलावा जो दूसरी चीज आकर्षित करने वाली है, वह है इसका ढांचा। परम्परागत ढांचे को तोड़कर एक नये समय का उपन्यास रचा गया है.....।'

एक गंधर्व का दुःस्वप्न, हरीचरन प्रकाश, राजकमल प्रकाशन, मूल्य -२२५

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना के निकष और हिंदी नवजागरण

प्रभाकर सिंह

प्रोफेसर, हिंदी विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी
मोबाइल नंबर ९४ ५० ६२ ३०७८

भारतीय नवजागरण का विवेचन विश्लेषण करते ही हमारे सामने बंगाल के नवजागरण और वहां के समाज सुधारक और चिंतक राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, ईश्वरचंद्र विद्यासागर और विवेकानंद का नाम सहज ही उभरता है। आधुनिक भारतीय नवजागरण का प्रवेश द्वार बंगाल का नवजागरण है इसमें कोई दो राय नहीं पर इसी के साथ अन्य प्रादेशिक नवजागरण का भी अपना महत्व है। कहना न होगा कि भारतीय नवजागरण के आलोक में प्रादेशिक नवजागरण की बात करते हुए हिंदी नवजागरण का अपना विशेष महत्व है। जहां बांग्ला नवजागरण, मराठा नवजागरण और द्रविड़ नवजागरण में स्थानीय चेतना के साथ समाज सुधार के तत्व अधिक हैं वहीं हिंदी नवजागरण में राष्ट्रीयता और भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की अनुगूंज की अधिकता है। हिंदी नवजागरण के महत्व को प्रकट करने वाले आलोचक रामविलास शर्मा ने इस नवजागरण की जातीय जमीन की तलाश करते हुए इसके कुछ खास महत्व से हमें रूबरू कराया। उन्होंने भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में हिंदी नवजागरण का उद्घाटन करते हुए उसे विशिष्ट और केंद्रीय नवजागरण की उपाधि दी। राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता आंदोलन के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में हिंदी नवजागरण ने अपना महत्व साबित किया। इस नवजागरण की खास विशेषता यह भी है की इसमें समाजसुधारक और चिंतकों की भूमिका में अधिकांश साहित्यकारों का नाम लिया जाता है। भारतेंदु

हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी चंद्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, और प्रेमचंद सिर्फ साहित्यिक ही नहीं नवजागरण के योद्धा भी थे। रामविलास शर्मा आधुनिक हिंदी नवजागरण के चार पड़ाव की चर्चा करते हुए अठारह सौ सत्तावन के महासंग्राम को पहला, भारतेंदु युग को दूसरा, द्विवेदी युग को तीसरा और छायावाद को चौथे पड़ाव के रूप में विवेचित करते हैं। इसी चौथे दौर में हिंदी साहित्य के अप्रतिम आलोचक और चिंतक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने संपूर्ण आलोचनात्मक लेखन से हिंदी नवजागरण को एक नई दृष्टि प्रदान की। उनका संपूर्ण आलोचनात्मक लेखन हिंदी नवजागरण का जीवंत दस्तावेज है। लोकमंगल, भौतिकता, ज्ञान, तर्क, उदात्त भावना, अनुशासन और मानवतावाद उनकी आलोचना के मूल्य हैं। प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह हिंदी नवजागरण से आचार्य शुक्ल का रिश्ता जोड़ते हुए 'आचार्य शुक्ल और हिंदी नवजागरण' नामक वैचारिक लेख में लिखते हैं... 'भारतीय नवजागरण के अंतर्गत हिंदी नवजागरण की कुछ अपनी जातीय विशेषताएं हैं। यह केवल धार्मिक और सामाजिक सुधारकों की देन नहीं है बल्कि हिंदी नवजागरण की जो विशेषता है वह यह कि इस नवजागरण में यहां के बौद्धिक और मुख्य रूप से साहित्यकारों और लेखकों ने भूमिका अदा की है। इसमें भारतेंदु हरिश्चंद्र और भारतेंदु मंडल के साहित्यकारों के बाद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पंडित चंद्रधर शर्मा

गुलेरी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे साहित्यकारों की भूमिका महत्वपूर्ण है और निर्णायक। इसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल का नाम लेते समय हम उन्हें केवल साहित्य के विचारक, विवेचक और आलोचक तक ही सीमित न रखें बल्कि उनका गहरा संबंध व्यापक हिंदी नवजागरण से है जिसने भारतीय जीवन में एक नई चेतना उत्पन्न की।^१

.. आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना व्यावहारिक से सैद्धांतिक की ओर अग्रसर हुई। उन्होंने १९०० से लेकर १९४० लगभग तीन दशक तक लेखन किया जिसमें १९१९ के बाद का उनका लेखन बेहद गहन और सर्जनात्मक है। आरंभिक लेखन में कुछ निबंध जैसे १९०४ में 'साहित्य' नामक निबंध, १९०९ में 'कविता क्या है' और १९१० में 'उपन्यास' जैसे निबंध उनकी अपनी वैचारिक प्रतिभा का परिचय देते हैं। १९१९ के बाद या कहें कि काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी में अध्यापक नियुक्त होने के बाद उनके लेखन और चिंतन में नई धार आती है। अनुवाद, व्यवहारिक समीक्षा और सैद्धांतिक समीक्षा एवं इतिहास लेखन की अप्रतिम रचनाएं उन्होंने इसी दौर में रची। व्यवहारिक आलोचना की महत्वपूर्ण पुस्तकों के साथ वह १९२९ में 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखते हैं जो उनकी इतिहास और आलोचना की क्लासिक रचना है। हां सैद्धांतिक आलोचना की किताब 'रस मीमांसा' का प्रकाशन जब हुआ तो उसके पूर्व उनकी व्यवहारिक आलोचना की अप्रतिम रचनाएं प्रकाशित हो चुकी थी। यह दिलचस्प है की १९१९ से १९२९ के बीच का के वर्षों में उनकी आलोचना का स्वर्णिम दौर है और यही वह समय है जब भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का वैभव युग भी दिखाई देता है। जाहिर है इसका शुक्ल जी की आलोचना और विचार पर गहरा असर है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की आलोचना के समर्थ आलोचक रामविलास शर्मा सुख जी के आलोचना पर राष्ट्रीय आंदोलन के इस दौर का के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए सही लिखते हैं कि, ' सन १९२९ तक जलियांवाला कांड से लेकर रावी तट पर संपूर्ण स्वाधीनता की प्रतिज्ञा तक भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण काल है। शुक्ल जी का अधिकांश आलोचनात्मक कार्य इसी दौर में संपन्न हुआ था। २१ में 'विश्व प्रपंच की भूमिका' सन २२ में 'बुद्धचरित की भूमिका' सन २३ में

'तुलसीदास' सन २४ में 'जायसी ग्रंथावली की भूमिका' २५ में 'भ्रमरगीत सार की भूमिका सन २९ में 'हिंदी साहित्य का इतिहास' इन सबके साथ 'रस मीमांसा' और अनेक निबंध। इससे शुक्ल जी के अनवरत अध्यवसाय और विकट परिश्रम का अनुमान किया जा सकता है। स्वाधीनता आंदोलन के प्रसार के साथ भारतीय साहित्य का नए स्तर पर विकास हुआ। दोनों का संबंध है कहीं प्रत्यक्ष कहीं अप्रत्यक्ष। स्वाधीनता आंदोलन का सामंत विरोधी पक्ष कमजोर है शुक्ल जी की आलोचना का सामंत विरोधी पक्ष मजबूत है।'... २

आचार्य शुक्ल की आलोचना द्रष्टि में सामन्तवाद-साम्राज्यवाद विरोध है। हिंदी नवजागरण में निहित प्रतिरोध और अंतर्विरोध दोनों रूपों का दर्शन शुक्ल जी के यहां होता है। शुक्ल जी हिंदी नवजागरण के युगीन परिवेश में अपनी आलोचना का मानस निर्मित करते हैं। आचार्य शुक्ल जिस समय हिंदी आलोचना में प्रवृत्त हुए उस समय साहित्यिक परिवेश में आलोचना द्विवेदी युग की तुलनात्मक आलोचना में फंसी थी तो दूसरी ओर साहित्य इतिहास लेखन में उपनिवेशवाद इतिहास दृष्टि के प्रभाव में हिंदी साहित्य का इतिहास लेखन उलझा था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल नवजागरण के योद्धा की तरह एक और भारतीय रीतिवादी, अतिशय श्रृंगारवादी, चमत्कारवादी, रहस्यवादी दृष्टि से उसे उबारने का काम करते हैं तो दूसरी ओर उपनिवेशवादी इतिहास लेखन की पूर्वाग्रह ग्रसित साहित्य विवेचना और इतिहास दृष्टि से उसे मुक्त भी करते हैं। उपनिवेशवादी इतिहास लेखन में ईसाई धर्म की आड़ में अध्यात्म और रहस्यवाद के आलोक में समूचे हिंदी साहित्य को रणनीतिक तरीके से विवेचन विश्लेषण करके हिंदी चेतना को कुन्द किया जा रहा था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी में उपनिवेशवाद के इस दृष्टि को बखूबी पहचान रहे थे। यूं ही नहीं वह अध्यात्म, रहस्यवाद, चमत्कार वाद में निहित साम्राज्यवादी और सामंत वादी वादी षड्यंत्र के खिलाफ अपनी आलोचना का मान -मूल्य निर्मित करते हैं। आचार्य शुक्ल ने उपनिवेशवाद के इतिहास लेखन में भारतीय मनीषा को अंधविश्वास, रहस्यवाद और अतिशय कलावाद से मुक्ति का पथ निर्मित करते हैं। इसके लिए उन्होंने भारतीय चिंतन, दर्शन और सौंदर्य की जमीन से

ही उसके लिए नई मौलिक दृष्टि प्रदान की।

आचार्य शुक्ल मूलतः कविता के आलोचक थे सो कविता, रस और साहित्य के इतिहास में वह भारतीय चेतना की भौतिकता और भक्ति की धार्मिक जनचेतना और भारत के साधारण जन की संवेदना को अपनी आलोचना का आधार बनाते हैं। आचार्य शुक्ल के वैचारिक लेखन में आम जनमानस है, कृषक समाज है, प्रकृति है, गोचर संसार है। इस दृष्टि की पड़ताल के लिए शुक्ल जी के लेखन के उस पक्ष पर विचार करना जरूरी है जो उनके अनुवाद और वैचारिक लेखन में निहित है। प्रायः उनके आलोचनात्मक मूल्यांकन में इस पक्ष को छोड़ दिया जाता है १९०७ में स्वाधीनता आंदोलन के दौर में भारतीय किसान पर वह लिख रहे हैं। यह वही दौर है जब महावीर प्रसाद द्विवेदी 'संपत्तिशास्त्र' जैसी पुस्तक में किसानों की दुर्दशा पर साम्राज्यवादी शोषण के बारे में लिख रहे थे। यही वह दौर है जब आचार्य रामचंद्र शुक्ल १९०७ में 'व्हाइ हैज इंडिया टू डू' जैसा वैचारिक लेख लिखते हैं। इस लेख में वह साम्राज्यवादी शोषण की तीखी आलोचना करते हैं। इसी प्रकार १९२१ में उनके द्वारा लिखा गया लेख 'नन कॉर्पोरेशन एण्ड नन मर्केटाइल क्लासेस' लेख में उनके राजनीतिक शिक्षा दृष्टि और प्रगतिशील विचार का दर्शन होता है। यहां वह नवजागरण के समाज सुधारकों की तरह अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ नजर आते हैं। इस निबंध का जिक्र करते हुए प्रगतिशील आलोचक नामवर सिंह ने 'आचार्य शुक्ल और हिंदी नवजागरण' लेख में इसका हिंदी अनुवाद उद्धृत करते हुए लिखते हैं, 'प्रत्येक ग्रामवासी को यह जानना चाहिए कि वह इतनी ज्यादा मेहनत करने पर भी इतना कम क्यों कमाता है और सचमुच प्रत्येक भारतवासी को यह साफ दिखाई पड़ना चाहिए कि उसका देश दिन-ब-दिन गरीब क्यों होता जा रहा है। आप चाहें तो इसे राजनीतिक शिक्षा कह सकते हैं। इस प्रकार की शिक्षा के प्रसार के लिए भिन्न पध्दतियों और माध्यमों का सहारा लेना पड़ेगा। स्कूल और कॉलेज ही शिक्षा के स्थान नहीं होंगे सार्वजनिक व्याख्यानों के द्वारा हम लोग बहुत कुछ कर सकते हैं। सुविधाजनक स्थानों पर ऐसे व्याख्यान का आयोजन किया जाना चाहिए और लोगों को सुदूर देहातों में जाकर भारतीय जन समूह

को उन परिस्थितियों से परिचित कराना चाहिए जो उन्हें प्रभावित कर रहे हैं।'३...

कहना न होगा कि यहां आचार्य रामचंद्र शुक्ल एक जनधर्मी बुद्धिजीवी की तरह नजर आते हैं। आचार्य शुक्ल की चिंता में आमजन और वह किसान है जिसे वह शिक्षित और समझदार करना चाहते हैं। वह यह चाहते थे कि राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित होना जरूरी है क्योंकि उन्होंने गांव, किसान, श्रम संस्कृति को नजदीक से देखा था, महसूस किया था। उनका स्पष्ट मानना था कि यह आमजन और किसान अपने जुलूम और शोषण का प्रतिरोध तभी कर पाएगा जब वह इसे समझेगा इसकी असलियत जानेगा। शुक्ल जी इसी श्रमशील जनता की संवेदना को उसके दुख दर्द को अपनी रचना और आलोचना का मानक बनाते हैं। या कहें कि उनके साहित्य में यही नायकत्व प्राप्त करता है। इस रूप में उनकी आलोचना दृष्टि में प्रगतिशील साहित्य का एक जीवंत सिर जुड़ता है जहां वह श्रम संस्कृति, किसान, आमजन के दुख दर्द के यथार्थ का ही चित्रण ही नहीं करते बल्कि शोषण के सजग प्रतिरोध की बात भी करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मर्मों आलोचक मलयज अपनी पुस्तक 'रामचंद्र शुक्ल' में इसी साधारण मनुष्य और ग्रामीण संस्कृति को शुक्ल जी की वैचारिकी का केंद्र मानते हुए लिखते हैं, 'जिस साहित्य को वे फलता फूलता देखना चाहते हैं उसमें देश के असली सामाजिक और गाहस्थ जीवन के चित्र होने चाहिए। असली सामाजिक गाहस्थ इन शब्दों के भीतर झांक कर देखिए असली नकली के वजन पर नहीं है। उसका मतलब वास्तविक तथ्यपरक इस देश की मिट्टी, पानी से बना। कल्पना प्रसूत नहीं। सामाजिक व्यक्तिवाद के विरोध में खड़ा विस्तीर्ण और व्यापक जिम्मेदार और नैतिक मूल्यों से सम्पृक्त। गाहस्थ में एक सामान साधारण जन के मूल्य निहित हैं।'४

आचार्य शुक्ल का लोकधर्म और लोकमंगल की दृष्टि इसी साधारण जन की संवेदना से निर्मित होती है। स्वाधीनता आंदोलन और नवजागरण के आलोक में उनकी वैचारिक और आलोचनात्मक दृष्टि का निर्माण होता है। आचार्य शुक्ल सुधारवादी और पुनरुत्थानवादी नवजागरण की चेतना के संस्कार से संवेदित हैं। सुधारवाद के साथ

यूरोपीय वैज्ञानिक चिंतन से वह बखूबी परिचित है। उनका आलोचनात्मक आत्म संघर्ष इनसे जुड़ते और इनका अतिक्रमण करते हुए निर्मित होता है। उनकी आलोचनात्मक शब्दावली में कहें तो वह भारत और पश्चिम के इस चिंतन का 'विरुद्ध का सामंजस्य' बनाते हैं। उनके वैचारिक मानस में नवजागरण के जिन सुधार को और चिंतकों का प्रभाव है उसकी पड़ताल करते हुए मुरली मनोहर प्रसाद सिंह का लेख 'राष्ट्रीय आंदोलन का सांस्कृतिक आयाम और आचार्य शुक्ल' विशेष महत्व का है। इसमें वह नवजागरण कालीन चिंतकों का शुक्ल जी की वैचारिकी पर पड़ने वाले प्रभाव का विवेचन करते हुए लिखते हैं, 'गीता- रहस्य के पहले तीन प्रकरणों में कम-योग शास्त्र के विवेचन तथा गीता के अनुवाद, भाषा एवं व्याख्या द्वारा तिलक ने अन्याय, प्रतिकार, कर्मन्यता और छात्र धर्म को अपने मुख्य संदेश के रूप में प्रतिपादित किया। यही नहीं मायावाद और निवृत्ति मार्ग, रहस्य एवं गुह्य तत्व के खण्डन तथा भक्ति मार्ग के विवेचन संबंधी तिलक की स्थापनाओं को शुक्ल जी के संपूर्ण साहित्य से मिलाकर पढ़ने की आवश्यकता है। हम यदि थोड़ा भी अध्यवसाय करें अर्थात् स्वामी दयानंद सरस्वती के 'सत्यार्थ प्रकाश' में उठाए गए प्रश्नों पर हिंदी के सनातन धर्मी तत्कालीन धर्माचार्य और विद्वानों के उत्तरों को सामने रखकर यदि १९वीं सदी के अंतिम दशकों और बीसवीं सदी के प्रारंभिक तीन दशकों के विवादों की छानबीन करें तो पता चलेगा कि शुक्ल जी के सांस्कृतिक चिंतन पर इन सब का कितना गहरा असर है। मुझे कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी दयानंद सरस्वती के साथ विचार संग्राम में भारतेंदु हरिश्चंद्र, विवेकानंद, बाल गंगाधर तिलक और आचार्य शुक्ल मानों एक ही मोर्चे के घटक हैं।'..५

शुक्ल जी के वैचारिक मानस पर इन विचारों को और और उनके चिंतन चिंतन का गहरा असर है पर असल में शुक्ल जी अपनी आलोचनात्मक कसौटी में जिस संवेदना को प्रगट करते हैं उसमें लौकिक यथार्थ, गोचर जगत, प्रकृति, मनुष्य की उदात्त भाव संवेदना के साथ वह एक वैज्ञानिक और आलोचक राष्ट्र की परिकल्पना करते हैं। उनके लोकधर्म का लोक जनसंवेदना की सजग दृष्टि से जुड़ा है। यों कई बार वह इस कसौटी को इतना अनुशासित

और मर्यादित बना देते हैं कि उनके आलोचनात्मक मानस में भारतीय साहित्य की सिद्ध और संत परंपरा उपेक्षित हो जाती है जिसमें जनतांत्रिक और मानवीय मूल्य की गरिमा तो है लेकिन उनके कहन में वह अनुशासन नहीं है, वह बेलौस है जिसके कारण शुक्ल जी उसे साहित्य की कसौटी में नहीं रख पाते। यह उनकी आलोचना की सीमा भी है पर दूसरी ओर उनके वैचारिक दृष्टि की अनंत संभावनाओं की ओर भी हमें देखना चाहिए।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल मूलतः कविता के आलोचक हैं। पश्चिम की विचार भूमि की चेतना को वह अपने आलोचनात्मक विवेक के साथ ग्रहण करते हैं लेकिन युगीन परिदृश्य, हिंदी साहित्य की विशाल काव्य संस्कृति के लिए कसौटी तो भारतीय चिंतन और परंपरा से ही ग्रहण करते हैं। इसी दृष्टि से वह कविता और रस संबंधी दृष्टिकोण विकसित करते हैं। उनके विचार में ब्रह्म और जगत को अलग नहीं माना गया है। यह गोचर जगत ईश्वर का ही प्रतिरूप है। माया नहीं है यह। यथार्थ है। इस कसौटी का एक सिरा युगीन नवजागरण की चेतना से वह ग्रहण करते हैं दूसरी ओर भारतीय दर्शन और संस्कृति में ईश्वर, जगत, सौंदर्य और प्रकृति की भौतिकता वादी विवेचना को वह अपनी काव्य और रस संबंधी दृष्टि में रूपाईत करते हैं। कविता और रस संबंधी उनकी यह दृष्टि इस उदारहण में बखूबी देखी जा सकती है, 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्ता वस्था रसदशा तथा कहलाती है हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।'..६.. आचार्य शुक्ल कविता का संबंध की व्यक्त संसार से मानते हैं। चारों ओर फैले हुए गोचर जगत से। अव्यक्त सत्ता से नहीं है। यही दृष्टि उन्हें आलोचना का वैज्ञानिक और विरल आलोचक बनाती है।

आचार्य शुक्ल नवजागरण के दौर में पश्चिम के उस विचार को जो भौतिकता के आग्रह के साथ धर्म के पाखंड रूढ़िवादिता एवं जड़ परंपराओं का प्रतिरोध करता है उसका स्वागत करते हैं। इस संदर्भ में उनके द्वारा किए गए अनुवाद को पढ़ते हुए हमें उनकी इस दृष्टि का पता चलता है। सन १९२१ में 'द रिडल ऑफ द यूनिवर्स' का 'विश्व प्रपंच' नाम से शुक्ल जी ने अनुवाद किया और

लगभग १५० पेज की लंबी भूमिका लिखी। इसकी पृष्ठभूमि महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुवाद में भी मौजूद है जहां पर वह पश्चिम के इस वैज्ञानिक चिंतन को अपने अनुवाद के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं शुक्ल जी पश्चिम के सृजनात्मक चिंतन को हिंदी नवजागरण के लिए रूपाईत करते हैं तो दूसरी ओर उस चिंतन के आतंक से वह हिंदी आलोचना को मुक्त भी करते हैं जिसमें प्रायः बिना किसी तर्क या आलोचनात्मक विवेक के पश्चिम के चिंतन को ग्रहण किया जाता है। आचार्य शुक्ल ने भारतीय चिंतन दर्शन और विचार भूमि की भौतिकता वादी दृष्टि की पड़ताल करते हुए हिंदी नवजागरण को एक मजबूत आधार प्रदान करते हैं। उनकी अनुवाद दृष्टि और उसकी वैज्ञानिक चेतना और के बारे में नामवर जी का यह कथन उल्लेखनीय है... जिस सेकुलरिज्म का आज बहुत अभिमान किया जाता है और कभी-कभी विकृत रूप में उसे लागू करने की कोशिश की जाती है वह उदार दृष्टि धार्मिक अंधविश्वासों को रूढ़ियों को हटाकर एक समन्वित जातीय राष्ट्रीय दृष्टिकोण कैसे हो सकती है इसके बीच आप 'विश्व प्रपंच की भूमिका' में देख सकते हैं जहां शुक्ल जी कहते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति और विकास के बारे में अब पुरानी पौराणिक और धार्मिक गाथाओं से काम नहीं चलेगा ईश्वर संस्कृत बोलता है कि अरबी बोलता है। लंबी दाढ़ी वाला है कि चोटी वाला है यह कहने से अब काम नहीं नहीं चलेगा। जिसको इस पर बहस करनी है वह ठोस वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर इस मैदान में आए खड़ा हो।'७

आचार्य शुक्ल हिंदी नवजागरण के दौर में भारतीय राजनीति को एक सजग जनधर्मी बौद्धिक की तरह देख रहे थे। इसी दृष्टि से वह अपनी आलोचना का निकष तैयार करते हैं जिसमें तुलसी का लोकमंगल, जायसी की लोक संस्कृति और सूर का जीवन उत्सव का रंग है। आधुनिक स्वाधीनता आंदोलन में भारतीय राष्ट्रवाद में साम्राज्यवाद के विरोध में जो स्वरूप उभर रहा था उसमें छोटे और सीमांत किसान उपेक्षित थे। साधारण जनमानस भी वहां कमतर ही था। आचार्य शुक्ल उसकी भूमिका के बारे में बार-बार लिखते हैं और उसे इस आंदोलन का आधार मानते हैं। वह भारतीय जीवन के पारंपरिक मूल्यों सामूहिकता, अनुशासन और उदात्त तत्वों की कसौटी को

इसलिए ज्यादा तवज्जो देते हैं क्योंकि वह प्राच्यवाद की इतिहास दृष्टि के उस चिंतन का प्रतिरोध करते हैं जिसमें भारतीय संस्कृति, इतिहास को अध्यात्म, रहस्यवादी और चमत्कारवाद के आलोक में विवेचित किया गया। उनका संपूर्ण लेखन इस औपनिवेशिक दृष्टि के समानांतर भारतीय इतिहास दृष्टि की महत्ता को प्रतिपादित करता है। आचार्य शुक्ल उस आलोचक राष्ट्र की कल्पना करते हैं जो अभिजात्य और उपनिवेशवाद के बरअक्स सामान्य जन संस्कृति, प्रकृति, सौंदर्य और लोक की उदात्त भावना से निर्मित है। अपने आलोचना संघर्ष में स्वाधीनता आंदोलन और हिंदी नवजागरण के चिंतक की तरह वह जिस सजगता से भूमिका अदा करते हैं वह सचमुच उन्हें सिर्फ एक आलोचक और विचारवान बौद्धिक की तरह ही नहीं प्रस्तुत करता बल्कि वह अपने संपूर्ण लेखन और विचार से एक प्रतिबद्ध समाज सुधारक स्वाधीनता संग्राम सेनानी और जनधर्मी बुद्धिजीवी की तरह नजर आते हैं...।

सन्दर्भ

१. हिंदी समीक्षा और आचार्य शुक्ल, नामवर सिंह, संपादक, ज्ञानेंद्र कुमार संतोष, पृष्ठ १६९
२. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, मूल्यांकन और मूल्यांकन, संपादक खगेंद्र ठाकुर, पृष्ठ ५२
३. हिंदी समीक्षा और आचार्य शुक्ल, नामवर सिंह, संपादक ज्ञानेंद्र कुमार संतोष, पृष्ठ १७७
४. वही, मलयज की संघर्ष मीमांसा, पृष्ठ २०१-२०२
५. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, संपादक खगेंद्र ठाकुर, पृष्ठ ५५
६. चिंतामणि, भाग प्रथम, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ १४१-७ .हिंदी समीक्षा और आचार्य शुक्ल, नामवर सिंह, संपादक ज्ञानेंद्र कुमार संतोष, पृष्ठ १७१...

प्रभाकर सिंह

प्रोफेसर, हिंदी विभाग

काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मोबाइल नंबर ९४ ५० ६२ ३०७८

कविता परिभाषा / प्रकार / उद्देश्य

डॉ श्याम सखा श्याम

डॉ श्याम सखा श्याम

पंचकुला चंडीगढ़, ८३६०२१९१३६

Shyamskha1973@gmail.com

कविता क्या है ? कविता साहित्य की एक विधा है साहित्य क्या है साहित्य किसी भी भाषा में अभिव्यक्ति यथा कथा कविता नाटक आदि के माध्यम से अभिव्यक्ति करने को कहा जाता है यौ अभिव्यक्ति संगीत नृत्य, चित्र आदि कला से भी होती है अब प्रश्न उठता है भाषा क्या है ?

- भाषा भाषा एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से हम अपने विचारों को व्यक्त करते हैं और इस हेतु हम वाचिक ध्वनियों का उपयोग करते हैं। यानी भाषा मुख से उच्चारित होनेवाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह है जिनके द्वारा मन की बात कही बतलाई जाती है। किसी भी भाषा में अनेक ध्वनिया एक व्यवस्था में मिलकर एक सम्पूर्ण भाषा की बनाती है। अभिव्यक्त नाद की वह समष्टि जिसकी सहायता से किसी एक समाज या देश के लोग अपने मनोगत भाव तथा विचार एक दूसरे पर प्रकट करते हैं उसे उस देश विशेष की भाषा कहते हैं। यानी मुहं से बोले जाने वाले शब्दों और वाक्यों आदि का वह समूह जिस के द्वारा मन की बात बतलाई जाती है भाषा कहलाती है।

कविता

आजकल विशेषतः सोशल साइट की आमद ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अर्थ कुछ ऐसा बना दिया है कि हर कोई कुछ भी कह उसे कविता का नाम दे डालता है और फिर लाइक कमेंट के लेन देन का व्यापार चल निकलता है यहाँ आदिकाल से चला हुआ बार्टर सिस्टम चलता है आप मुझे अच्छा कहें मैं आपको, आप मुझे कोसोंगे तो मैं

भी पीछे नहीं रहूँगा आपकी गज़ल कविता में कमी निकाल कर देखें तलवार निकल जायेगी गोलियां नहीं तो गालियाँ तो चलेंगी ही

अतः सर्वप्रथम हम कविता की कुछ जग प्रसिद्ध परिभाषाओं पर एक दृष्टि डालते हैं और समझने का प्रयत्न करते हैं कि कविता अथवा काव्य है क्या?

मैंने हिन्दी में कविता कि परिभाषा की खोज की तो जो सामने आया वह थोडा बाद में आगे लिखा है पहले जो संस्कृत व अँग्रेजी में मिला वह मुझे सरल लगा, वह पहले दे रहा हूँ बाद में हिन्दी विद्वान क्या कहते हैं उसका जिक्र भी करूँगा

संस्कृत विद्वान भरत मुनि के अनुसार 'सुन्दर कोमल पद, गूढ़ शब्दों से रहित सरल एवं युक्तियुक्त रस ही काव्य है। आचार्य दण्डी ने कहा कि चमत्कारपूर्ण अर्थ से युक्त सरस एवं मनोहर पदावली ही काव्य है।

आचार्य भामह कहते हैं - 'शब्दाथौ सहितो काव्यम्' अर्थात् शब्द एवं उसके उचित अर्थ का मेल ही कविता है।

आचार्य विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार दी - 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका

कविता- साहित्य की वह विधा है जो अनुभव की गई मानवीय भावनाओं एक जगह केंद्रित कर शब्द की विशेष, व्यवस्था विशेष ध्वनि इ यति -गति और लय के द्वारा एक विशिष्ट भावनात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर श्रोता पाठक में कल्पनाशील जागरूकता पैदा करती है या

उसके अर्थ, उजागर करती।- एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका पोइट्रि विकिपीडिया डऑग्रेजी कहता है कि कविता 'साहित्य का एक रूप है जो भाषा के सौंदर्य और लयबद्ध गुणों का उपयोग करता है - जैसे कि ध्वन्यात्मकता, ध्वनि प्रतीकवाद, और मीटर - इसके अलावा, या इसके स्थान पर अर्थ को प्रकट करने के लिए, प्रोजेडिक ओस्टेंसिबल ड दृश्यमान या तथाकथित गद्यात्मक अर्थ चित्रित करता है इमेज बनाता है '

यथा खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थे या मेरे वतन के लोगो तुम याद करो कुर्बानी पढ़ सुनकर मन में देश प्रेम की कल्पना पैदा हो जाती है

अब हिन्दी में मिली परिभाषाएँ

१-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबंध में कविता को 'जीवन की अनुभूति' कहा है।

जयशंकर प्रसाद ने सत्य की अनुभूति को ही कविता माना है

कुछ इसी तरह की परिभाषा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी दी है, "कविता का लोक प्रचलित अर्थ वह वाक्य है, जिसमें भावावेश हो, कल्पना हो, पदलालित्य हो तथा प्रयोजन की सीमा समाप्त हो चुकी हो।"

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा तथा स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" कविता से मानव भाव की रक्षा होती है। मानो वे पदार्थ या व्यापार विशेष नेत्रों के सामने नाचने लगते हैं। वे मूर्तिमान होते दिखाई देने लगते हैं। उसकी उत्तमता या अनुत्तमता का विवेचन करने में बुद्धि से काम लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती। कविता की प्रेरणा से मनोवेगों का प्रवाह फूट पड़ता है। तात्पर्य यह है कि कविता मनोवेगों को जाग्रत करने का उत्तम साधन है।

तो कविता लेखन अभिव्यक्ति का एक अंश जिसमें शब्दों को उनकी सुंदरता और ध्वनि के लिए चुना जाता है और सावधानीपूर्वक व्यवस्थित किया जाता है, जिसे छंद कहते हैं

सरल शब्दों में मैं इसे यूँ कह सकता हूँ कविता साधारण विचारों की असाधारण अभिव्यक्ति है या

तो क्या जिसने भी कवि तथा कविता शब्द को रचा वह

कहीं यह तो नहीं सोच रहा था

'क से कल्पना,
वि से विचार और
ता से तालमेल

कविता काष्ठ की अग्नि है, कविता गहन समाधि में बैठे ऋषि के ध्यान में उतरी ध्वनि है, कविता किसी संवेदना का उन्मुक्त प्रवाह हो सकती है वो कोई आग हो, कविता गंधर्व की राग हो, हो सकता है बेआवाज हो।

कविता और गद्य के बीच अंतर; है होना ही चाहिए मैं जानता हूँ कि कविता को परिभाषित करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है फिर भी कोशिश है क्योंकि कम से कम लोग या सच कहूँ तो कवि कहलाने वाले लोग कविता और गद्य के बीच अंतर; है होना चाहिए यह तो समझे कि कविता में रूप का विचार; विचार की एक विधा के रूप में कविता; और गद्य में कविता की भावना के बारे में क्या कुछ कहा जा सकता है।

गद्य और पद्य या कविता में अन्तर

गद्य और पद्य या कविता में क्या अन्तर था, होता है, होता आया है समझने के लिए पहले हमें यह जानना होगा कि गद्य क्या है आइये एक उदाहरण से समझने का पर्यटन करें

हैं चंडीगढ़ सब्जीमंडी पहले हुआ देता से घर उन्हें जाकर से पंचकूला बोम्बे मैं दिल्ली चेंनेई देता खरीदूंगा जाऊंगा आ पहुंचा आम फिर मैं लाकर

उपरोक्त शब्दों का अर्थ निकालना एक पहेली हल करने जैसा है अब अगर इन्ही शब्दों को यूँ लिखे

मैं दिल्ली जाकर सब्जीमंडी से आम खरीदूंगा उन्हें लाकर पहले चेंनेई फिर बोम्बे पहुंचा कर चंडीगढ़ देता हुआ पंचकूला घर आ जाऊंगा

अब इसे यूँ लिखदे तो शब्द ही समझ नहीं आयेंगे ना मैं लीडि र जाक ब्जीस डीमं से म आ री ख गा दूँ, मैं लीडि ड दिल्ली . र जाक ड जाकर . ब्जीस ड सब्जी . डीमं ड मंडी. से म आ डआम . री ख गा दूँ ड खरीदूंगा .

ऐसा क्यों हुआ क्योंकि वाक्य में शब्दअपनी जगह नहीं थे और शब्द में अक्षरअपनी जगह बदल बैठे थे यानी अनुशासन भंग कर बैठे थे किसका अनुशासन बंद कर बैठे

? विद्वान कहेंगे व्याकरण का अनुशासन भंग हुआ है तो यह व्याकरण क्या है ?

व्याकरण

भाषा के शुद्ध और स्थायी रूप को निश्चित करने के लिए नियमबद्ध योजना की आवश्यकता होती है और उस नियमबद्ध योजना को हम व्याकरण कहते हैं।

परिभाषा- व्याकरण वह शास्त्र है जिसके द्वारा किसी भी भाषा के शब्दों और वाक्यों के शुद्ध स्वरूपों एवं शुद्ध प्रयोगों का विशद ज्ञान कराया जाता है।

भाषा और व्याकरण का संबंध- कोई भी मनुष्य शुद्ध भाषा का पूर्ण ज्ञान व्याकरण के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। अतः भाषा और व्याकरण का घनिष्ठ संबंध है वह भाषा में उच्चारण, शब्द-प्रयोग, वाक्य-गठन तथा अर्थों के प्रयोग के रूप को निश्चित करता है। व्याकरण के विभाग- व्याकरण के चार अंग निर्धारित किये गये हैं-

१. वर्ण-विचार।

२. शब्द-विचार।

३. पद-विचार।

४. वाक्य विचार।

तो हमने जाना कि दोस्तों गद्य हेतु भाषा में कुछ नियम होते हैं इन नियमों के समूह को व्याकरण कहते हैं व्याकरण और कुछ नहीं है वाक्य विन्यास की विधा है वाक्यविन्यास का ज्ञान है

गद्य के व्याकरण की तरह कविता या पद्य का व्याकरण भी होता है संगीत का व्याकरण सात सुर से राग रागिनी बनाता है

तो दोस्तों क्या नियम सिर्फ गद्य में ही होते हैं ? कविता में नियम नहीं होते यह सोचने की बात है आइये अब समझने की कोशिश करें कि कविता में नियम होना उतना ही जरूरी है जितना गद्य में या यूँ कहें कविता का अपना अलग व्याकरण होता है

कविता का व्याकरण भी कई तरह की कविता हेतु आवश्यक है कविता के व्याकरण को पिंगल या उरुज कहते हैं छंद की अनिवारियता या कविता का व्याकरण

जब गद्य का एक विशेष व्याकरण हो सकता है तो पद्य का क्यों नहीं और व्याकरण क्या है केवल कुछ नियमों का पालन भर ना और नियम पालन अनुशासन ही तो

कहा जाता है यह नियमपालन या अनुशासन परिवार से आरम्भ होता है अगर कोई सदस्य नियम पालन नहीं करता यानी अनुशासित नहीं रहता तो कहते हैं बिगड़ गया

छंद की आवश्यकता ?

जबतक पति या पत्नी एक दूसरे के प्रति समर्पित ईमानदार रहते हैं तो जिंदगी व्यवस्थित रहती है यानी यह तद्दह वफादार रहना एक सामाजिक अनुशासन है। जब यह अनुशासन भंग होता है तो क्या होता है आप सब जानते ही हैं

इसी तरह पद्य का भी एक अनुशासन होता है जैसे दोहा कुंडली गज़ल या मुक्त छंद जी छंद मुक्त कतई नहीं निराला जी ने मुक्त छंद नामक एक और छंद निर्मित किया था न की छंद छोड़ा था।

जिसमें यति (ठहराव) गति (रवानगी) और लय तो सुनिश्चित है केवल केवल मात्रा गणना में कुछ हद जी केवल कुछ हद तक छूट का प्रावधान था।

आप इस मुक्त छंद में लिखें लेकिन छंद मुक्त गद्य को कविता कह कर कविता का रेप न करें। इसी छंद उन्मुक्तता ने पाठक और श्रोता को कविता दे दूर कर दिया।

भाव अगर कविता का शरीर है तो छंद उसका लिबास है। और हम तन ढकने को तो कोई चादर भी लपेट सकते हैं हमारे पूर्वज पेड़ों को छाल मृग छाल आदि पहनते ही थे। हम क्यों डिजायनर लिबास पोशाक की और दौड़ते हैं। छंद उरुज कविता का डिजाइनर लिबास है जिसे सीखना ही होगा

आइये अब एक और उदाहरण देखते हैं

जन्नत होती है सिर्फ ख्याल भर है खामखा खुश हो लेते हैं कि जन्नत में हूरें मिलेंगी हमको कैसी है जन्नत मालूम है

गालिब बस ख्याल अच्छा है दिल को खुश रखने के लिए

या फिर

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन,

दिल के खुश रखने को 'गालिब' ये ख्याल अच्छा है

हजार खाहिशें हैं

और ऐसी है की हरेक ख्वाहिश पर दम निकल जाए थे तो बहुत अरमान दिल में लेकिन कुछ कम लगे हज़ारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पर दम निकले बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले

अब हमने देखा कि जब ग़ालिब के दो शेर जब गद्य में लिखे तो क्या हुआ ?

अब कुछ लोग इसी तरह के गद्य को कविता कह कर परोस रहे हैं और स्वयं महिमा मंडित करने को महाप्राण निराला के वंशज बन जाते हैं कहते हैं कि छन्दमुक्त कविता महाकवि निराला की देन है दोस्तों सरासर झूठ बात है इसका खुलासा आगे होगा

हम जान गये हैं कि कविता भाषा के प्रयोग का एक अनूठा तरीका है । संभवत इसकी उत्पत्ति का श्रोत किसी माँ की लल्ला-लोरी से हुआ हो । माना जाता है कि कविता और भाषा दोनों ही प्रारंभिक कृषि समाजों में अनुष्ठान से संबंधित थी ; यह दावा किया गया है, भाषा एक अच्छी फसल सुनिश्चित करने के लिए पहली बार जादुई मंत्रों के रूप में उत्पन्न हुई। कविता का जन्म एक विशाल शोध का विषय है और कविता का इतिहास मानव सभ्यता जितना पुराना है एक तथ्य यह भी है जिसे कोई नकार नहीं सकता कि जहां कहीं भी धर्म मौजूद वहाँ वहाँ कविता का इतिहास भी मौजूद है , कविता उससे ज्यादा पुरानी भी हो सकती है

कविता पहले छंद या मीटर और तुकबंदी के काफी सख्त नियमों के अनुसार लिखी जाती थी, और प्रत्येक संस्कृति के अपने नियम थे। उदाहरण के लिए संस्कृत का पूरा साहित्य अतुकांत मगर छांदसिक है , एंग्लो-सैक्सन कवियों कविता योजनाएं और मीटरअपने थे, जबकि ग्रीक कवियों और अरबी कवियों के पास अन्य थे। यद्यपि इन शास्त्रीय रूपों का आज भी व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है, लेकिन आधुनिक कवि अक्सर नियमों को पूरी तरह से दूर कर देते हैं - उनकी कविताएँ आम तौर पर तुकबंदी नहीं करती हैं, और किसी विशेष मीटर में फिट नहीं होती हैं। हालाँकि, कुछ कविताओं में अभी भी एक लयबद्ध गुण है और वे अपने शब्दों के माध्यम से सुंदरता पैदा करना चाहते हैं।

इस आधार पर हम कह सकते हैं की कविता संस्कृतियों,

सभ्यताओं के बारे में शक्तिशाली अंतर्दृष्टि प्रदान करती है उनके इतिहास को उजागर करती है

कविता शायद साहित्य का सबसे पुराना रूप है, और संभवतः लेखन की उत्पत्ति से पहले की है। हमारे पास पुरानी लिखित पांडुलिपियां कविताएं हैं, जिनमें से अधिकांश प्राचीन पौराणिक कथाओं की कहानियों को बताने वाले महाकाव्य हैं।

कविता का एक लंबा और विविध इतिहास है, जो दुनिया भर में अलग-अलग जगह विकसित हुआ । यह प्रागैतिहासिक काल में अफ्रीका में शिकार कविता के साथ, और नील, नाइजर और वोल्टा नदी घाटियों के साम्राज्यों की शानदार और भव्य दरबारी कविता के साथ है। अफ्रीका में सबसे पहले लिखी गई कविताओं में से कुछ २५ वीं शताब्दी ईसा पूर्व के दौरान लिखे गए पिरामिड ग्रंथों में माना गया है।

यूरेशियन महाद्वीप में प्रारंभिक कविताएं संस्कृत वेदों, पारसी गाथाओं ,चीनी शिजिंग जैसे लोक गीतों से विकसित हुई;

कविता या काव्य क्या है इस विषय में भारतीय साहित्य में आलोचकों की बड़ी समृद्ध परंपरा है- आचार्य विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, पंडित अबिकादत्त व्यास, आचार्य श्रीपति, भामह आदि संस्कृत के विद्वानों से लेकर आधुनिक आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा जयशंकर प्रसाद जैसे प्रबुद्ध कवियों और आधुनिक युग की मीरा महादेवी वर्मा ने कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने अपने मत व्यक्त किए हैं। विद्वानों का विचार है कि मानव हृदय अनन्त रूपतामक जगत के नाना रूपों, व्यापारों में भटकता रहता है, लेकिन जब मानव अहं की भावना का परित्याग करके विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। कविता मनुष्य को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित घेरे से ऊपर उठाती है और शेष सृष्टि से रागात्मक सम्बंध जोड़ने में सहायक होती है। काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं।

ये परिभाषाएँ आधुनिक हिंदी काव्य के लिए भी सही सिद्ध होती हैं। काव्य सिद्ध चित्त को अलौकिक आनंदानुभूति कराता है तो हृदय के तार झंकृत हो उठते हैं। काव्य में

सत्यं शिवं सुंदरम् की भावना भी निहित होती है। जिस काव्य में यह सब कुछ पाया जाता है वह उत्तम काव्य माना जाता है

कविता प्रकार

कविता कि परिभाषा संबंधी उपरोक्त उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि कविता की परिभाषा की समझ संस्कृत व अंग्रेजी में अधिक सरल सहज है जबकि हिन्दी के विद्वान अपने तथाकथित पांडित्य के बोझ तले दबे हुए हैं यही कुछ मुझे लगा मैंने जब कविता के प्रकार या रूप के बारे में ढूंढा विश्व की सभी भाषाओं में कविता के मूलतः तीन प्रकार मिलते हैं

१-छांदस कविता अंग्रेजी में मीट्रिक कविता

२- मुक्त छंद कविता अंग्रेजी में ब्लॉक वर्स

३- छंद मुक्त कविता अंगरेजी में फ्री वर्स

१-छांदस कविता - के दो प्रकार पाए जाते हैं

अ - तुकांत कविता. ब- अतुकांत कविता
कविता की गद्य से अलग पहचान उसके शब्दों में निहित यति, गति व लय से बनती है तुक इतना जरूरी नहीं है

अतुकांत कविता का उदाहरण पूरा संस्कृत साहित्य है

१-यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।

ज्ञानग्रिदग्धकर्मणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।

गीता : अध्याय ४, श्लोक १९।

जिसके सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत, बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म / कर्ता होने का अहंकार ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

२

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम

अम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।

केचिद् वृष्टिभिरार्वन्त्यन्ति धरणिं गर्जन्ति केचिद् वृथा।

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः

वैराग्य शतक - भर्तरी हरि

तुकांत कविता के उदाहरण दोहे , चौपाई गीत गजल आदि

१- बंदउँ संत असज्जन चरना। दुःखप्रद उभय बीच कछु बरना?

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं?

चौपाई - रामचरित मानस

२ तेरे मन पहुंची नहीं , मेरे मन की बात

नाहक हमने थे लिए, साजन फेरे सात

दोहा - श्याम सखा श्याम

गीत

२- मुक्त छंद कविता अंग्रेजी में ब्लॉक वर्स

ब्लॉक वर्स

रिक्त छंद वह कविता है जो नियमित छंदों में लिखी जाती है लेकिन बिना तुकबंदी वाली पंक्तियों में, लगभग हमेशा आयंबिक पेंटामीटर में - इसे '१६वीं शताब्दी के बाद से अंग्रेजी कविता ने संभवतः सबसे आम और प्रभावशाली रूप' के रूप में वर्णित किया है और पॉल फसेल ने अनुमान लगाया है कि 'सभी अंग्रेजी कविताओं का लगभग तीन-चौथाई रिक्त छंद में है।' आयंबिक पेंटामीटर को इस तरह अंकित किया जाता यह चिन्ह □ जिसे बीट कहते हैं हिन्दी में यति या ठहराव का द्योतक है तथा / यह चिन्ह गति का द्योतक है

× / × / × / × / × /

अंग्रेजी भाषा में, कविता शब्दांश से शब्दांश की ओर बहती है, प्रत्येक जोड़ी शब्दांश एक पैटर्न का निर्माण करते हैं जिसे काव्य मीटर के रूप में जाना जाता है। जब पद्य की एक पंक्ति दो-अक्षरों वाली इकाइयों से बनी होती है जो बिना उच्चारण वाले बीट से एक एक्सेंट बीट की ओर बहती है, तो लयबद्ध पैटर्न को आयंबिक मीटर कहा जाता है

× / × / × / × / × /

× / × / × / × / × / × / × /

हिन्दी में ब्लॉक वर्स को हम संभवत मुक्त छंद कह सकते हैं यथा इनमें यति गति लय तो होती है लेकिन हर पंक्ति में न तो एक बराबर मात्रा होती है न ही मात्रा क्रम होता है यथा जैसा की ऊपर लैबिक चिन्ह से जाहिर है या नीचे निराला जी के गीत में है

काट अंध-उर के बंधन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिमय निर्झर;
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे!

नव गति, नव लय, ताल-छंद नव
नवल कंठ, नव जलद-मन्द्ररव;
नव नभ के नव विहग-वृंद को
नव पर, नव स्वर दे!

वर दे, वीणावादिनि वर दे
तार-सप्तक के सभी कवि पहले छांदसिक कविता लिखते
रहे थे अतः उनकी प्रारम्भिक कविताएं मुक्त छंद में हैं न
कि छंद मुक्त

गजानन माधव मुक्तिबोध
१. आत्मा के मित्र मेरे

वह हमारा मित्र है,
आत्मीयता के केन्द्र पर एकत्र सौरभ !

वह बना
मेरे हृदय का चित्र है !

२- खोल आँखें

उस महा-व्याकुल अनावृत ज्ञानलिप्सा
के क्षितिज पर
जो खिंचा है स्वप्न-

श्रावण-सांझ के वितरित घनों पर
अमित, नीला, जामुनी, अति लाल, सुन्दर
दिवस की बरसात को सूर्यास्त का चुम्बन

३

मृत्यु और कवि

घनी रात, बादल रिमझिम है, दिशा मूक, निस्तब्ध वनान्तर
व्यापक अंधकार में सिकुड़ी सोयी नर की बस्ती भयकर
है निस्तब्ध गगन, रोती-सी सरिता-धार चली गहराती,
जीवन-लीला को समाप्त कर मरण-सेज पर है कोई नर
नेमिचंद्र जैन

धूल-भरी दोपहरी

जगती के कण-कण में गूँजी आकुल-सी स्वर लहरी
सरस पल आते-जाते

करुणा सिकता भर लाते
एक मूर्च्छना-सी प्राणों पर बेमाने बरसाते
अलसता होती गहरी।

अज्ञेय

भीतर जागा देवता

मतियाया

सागर लहराया ।

तरंग की पंखयुक्त वीणा पर

पवन से भर उमंग से गाया ।

फेन-झालरदार मखमली चादर पर मचलती

किरण-अप्सराएँ भारहीन पैरों से थिरकीं-

जल पर आलते की छाप छोड़ पल-पल बदलती ।

प्रभाकर माचवे

सानेट

मैंने जितना नारी, तुमको याद किया है, प्यार दिया है,
तुमने भी क्या कभी भूल से सोचा था कैसा है यह मनु ?
मैंने क्या अपराध किया जो तुमने यों इसरार किया है
जाने कैसे विद्युत्कर्षण से परसित है तन-मन-अणु-अणु
।

तुम मेरे मानस की संगिनि, चपल विहंगिनि, नीड़ कि
शाखा ?

तुम मेरे मन की राका की एकमात्र नक्षत्र-विशाखा;

तुम हो मृगा या कि आर्द्रा हो? नहीं, रोहिणी, तुम अनुराधा,

तुम छायापथ, ज्योति-शिखा तुम, तुम उल्का, आलोक-
शलाका,

चार पंक्तियाँ

निर्जन की जिज्ञासा है निर्झर की तुतली बोली में
विटपों के है प्रश्नचिन्ह विहगों की वन्य ठिठोली में
इंगित है 'कुछ और पूछ लूँ' इन्द्रचाप की रोली में
संशय के दो कण लाया हूँ आज ज्ञान की झोली में ।

गिरिजा कुमार माथुर

आज है केसर रंग रंगे वन

रंजित शाम भी फागुन की खिली खिली पीली कली-सी

केसर के वसनों में छिपा तन

सोने की छाँह-सा

बोलती आँखों में

पहले वसन्त के फूल का रंग है।

गोरे कपोलों पे हौले से आ जाती

पहले ही पहले के
रंगीन चुंबन की सी ललाई।
आज हैं केसर रंग रंगे
गृह द्वार नगर वन
राम बिलास शर्मा
वर्षा से धुल कर निखर उठा नीला-नीला
फिर हरे-हरे खेतों पर छाया आसमान,
उजली कुँआर की धूप अकेली पड़ी हार में,
लौटे इस बेला सब अपने घर किसान।
पागुर करती छाहीं में, कुछ गंभीर अध-खुली आँखों से,
बैठी गाँव करती विचार,
सूनेपन का मधु-गीत आम की डाली में,
गाती जाती मिल कर ममाखियाँ लगातार।

२

दारा शिकोह
दिल्ली में उमड़ आया क्षुब्ध जन-पारावार,
राहुग्रस्त चंद्र को भी देख कर उठा ज्वार;
दीन मदहीन एक हाथी पर राज्यहीन,
शाहंशाह भारत का दाराशुको था सवार।
अब बताएं ये कवि कैसे छंद मुक्त कहे जा सकते हैं^१
इन्हे हम मुक्त छंद या ब्लूक वर्स के कवि कह सकते हैं^२
प्रयोगवाद-नयी कविता युग की कविता (१९४०-१९६०)
- दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात् संसार भर में घोर निराशा
तथा अवसाद की लहर फैल गई तो साहित्य इससे अछूता
रहता यह कैसे संभव था। हिन्दी साहित्य पर इसका
असर अज्ञेय के संपादन में १९४४ में तार सप्तक के प्रकाशन
में देखा जा सकता है। तार सप्तक से ही हिंदी कविता में
नयी कविता या प्रयोगवादी युग का जन्म हुआ ऐसा माना
जाता है। नयी कविता ने कविता के सौन्दर्य को नकार
कर खुरदरे, बिम्बों मिथकों के माध्यम से निराशात्मक,
कुंठित, वैयक्तिकता, छंदहीनता को अपनाया और शेष
सब को बुर्जुआ कहकर नकार दिया। इस आंधी में सबसे
पहले आक्रमण छंद पर हुआ। वास्तव में नयी कविता नयी
रुचि का प्रतिबिंब कहा जाना लगा और इसे आधुनिकता
का प्रमाण भी है। इस धारा के मुख्य कवि हैं- अज्ञेय,
गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल,
मुक्तिबोध, शमसेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती, नरेश
मेहता, रघुवीर सहाय, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर दयाल

सक्सेना, कुंवर नारायण, केदार नाथ सिंह।
आप देख रहे हैं कि हर काल में अन्तिम कविगण अपने से
आगे आने वाले समय में पहुंचते रहे हैं। बिहारी भक्ति से
प्रारम्भ हो कर रीति काव्य में आये उसी तरह भारतेन्दु जी
व उनके समकालीन कवियों ने आरम्भ में शृंगार रस में
कवितायें लिखीं फिर आधुनिक काल में पदापर्ण किया है।
इसी तरह प्रगतिवाद में मुक्त छंद के पुरोधाओं ने अपना
सृजन छांदसिक कविताओं से आरम्भ किया था चाहे वे
त्रिलोचन हो या मुक्तिबोध या अज्ञेय आदि।

इस काल के कवियों ने अनेक सारगर्भित छन्द मुक्त रचनाएं
दी हैं-क्योंकि इन्हें छंद का ज्ञान था इसलिए इनकी कविताओं
में सधी हुई लय निहित थी^३ उनकी कविताओं में लय
मौजूद है वे भाव पक्ष की सुदृढ़ रचनाएं हैं।

उनकी मुक्त छन्द कविताओं में भी काव्य सौन्दर्य मौजूद
है। कारण ये सभी कवि अपने आरम्भिक काल में छान्दसिक
कविता रचते रहे हैं। इनमें से किसी ने भी छन्द की
महत्ता को कभी नकारा नहीं। यह उनकी कविताओं व
वक्तव्यों में भी देखा जा सकता है^४

मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता अँधेरे के छंद विधान का
अवलोकन करें^५

वर्तमान समाज चल नहीं सकता /पूँजी से जुड़ा हुआ
हृदय बदल नहीं सकता स्वतंत्र्य व्यक्ति वादी/ छल नहीं
सकता मुक्ति के मन को /जन को

या

फूँक मार एकाएक मशाल बुझा दी / मुझको यूँ अँधेरे में
पकड़कर/ मौत की सजा दी

क्या इनमे पद्य की लयात्मकता स्पष्ट नहीं दिखती^६
जब कवियों ने यति गति लय को भी त्याग कोरे गद्य को
कविता कहना आरम्भ कर दिया तो

मुक्त छंद कविता के प्रबल समर्थक श्री अज्ञेय को कहना
पड़ा-

बरगीनगर के लेखक शिविर में दिया गये व्यक्तव से
उद्धृत- अज्ञेय

‘लेखकों की गोष्ठियों और लेखक शिविरों में जब
समकालीन कविता की चर्चा होती है तो आरंभ में ही यह
स्वीकार कर लिया जाता है कि छंद दूसरी चीज है और
लय दूसरी; यहाँ से आरंभ करके ही यह कहा जाता है कि
आधुनिक कविता ने छंद छोड़ दिया अथवा छंद के बंधन

तोड़ दिए लेकिन लय नहीं छोड़ी। बात निश्चय ही सत्य है; इसे स्वीकार करके चलना सर्वथा उचित है। लेकिन इससे स्वीकार करने के बाद भी बात जब आगे बढ़ती है तो प्रायः दोनों को पर्यायवाची मान लिया जाता है। हमारे दो शिविरों में भी ऐसा ही हुआ है और इस भूल का संशोधन अभी तक नहीं हुआ। विद्वज्जन यह भी कह गए कि चादय का भी एक छंद होता है। मेरी समझ में यह बात या तो कहनी नहीं चाहिए या जिस विशेष अर्थ में कही जा सकती है उसे स्पष्ट करके कहनी चाहिए। गद्य की एक लय होती है यह मान लेने में तो मुझे कठिनाई नहीं है, लेकिन गद्य का एक छंद होता है यह मैं बिना पारिभाषित व्याकचया के स्वीकार नहीं करूँगा।

यहाँ इस आपत्ति से यह तो स्पष्ट ही है कि मैं छंद और लय को अलग कर रहा हूँ। लेकिन कहाँ अथवा कैसे उन्हें अलग कर रहा हूँ, इसको फिर से स्पष्ट करना उपयोगी होगा- बल्कि शायद आवश्यक भी है।

छंद की चर्चा में प्रायः उन चीजों का उल्लेख होता है जिन्हें हमने अर्थात् समकालीन कवियों ने छोड़ दिया। ये चीजें पहले छंद का अंग मानी जाती थीं; एक-एक करके हम पहचानते गए कि इनके बिना भी हमारा काम चलता है। लेकिन लय पर आकर हम लोग लटक गए- हमने माना कि इसके बिना काम नहीं चलता- अर्थात् अगर कविता है तो लय है; अगर लय नहीं है तो काव्य और गद्य में भेद का आधार नहीं रहता। मैंने कहा कि हम लय पर आकर अटक गए, लेकिन आज शायद ऐसे कवि अनेक होंगे जो लय को भी उतना ही फालतू अथवा डिसपेंसेबल मानते हैं जितना और सब चीजों को। पता नहीं वे उचित को भी क्यों डिसपेंसेबल नहीं मान लेते हैं! या कम-से-कम यह क्यों नहीं पूछते कविता लिखना ही क्यों आवश्यक है?.....

मैंने कई कवियों को जो गीत भी लिखते हैं और नए ढंग का मुक्त छंद या कि छंद-मुक्त कविता भी लिखते हैं, यह कहते हुए सुना है कि जब वे गीत लिखते हैं तब तो छंद उन्हें आवश्यक जान पड़ता है, लेकिन उसके बाहर कविता में छंद की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती, न ही लय का विचार वे करते हैं। जैसा हो कैसे सकता है, मेरी समझ में नहीं आता। जो कुछ मैंने कहा है उसमें कुछ भी सार है तो यह बात स्पष्ट भी हो जानी चाहिए कि ऐसा हो

ही नहीं सकता। अगर आप किसी एक समग्र रूपाकार तक पहुँचना चाहते हैं तो छंद की आवश्यकता होगी ही होगी। यह जरूर है कि छंद की परिभाषा में कुछ संशोधन होगा, छंद का विचार दूसरे ढंग से होगा। लेकिन कवि अगर किसी समग्र आकार तक पहुँचता है, कोई ऐसी चीज पाता है जिसके आधार पर यह बोध हो कि च्यहाँ रचना पूरी हो गई, और ऐसी पहचान स्वयं ही नहीं करता बल्कि दूसरे तक संप्रेष्य भी बनाता है, तो मानना होगा कि उस रचना में छंद है और वह छंद इष्ट था। और यदि वह नहीं है, एक पूरे रूपाकार की संप्रेष्य पहचान नहीं बनी, तो वहाँ कविता भी नहीं हुई, भले ही कितनी भी सच्ची या चमत्कारी बात कही गई हो।

(बरगिनगर के लेखक शिविर में दिया गये व्यक्तव्य से उद्धृत)

सच कहें तो छंद मुक्ति से कविता को फायदा कम घाटा ज्यादा हुआ और न केवल कविता को अपितु साहित्य की सम्पूर्ण विधाओं के नुकसान का दोष छन्द मुक्त कविता के नाम जाता है। छान्दस कविता सुन पढ़कर हर व्यक्ति में साहित्य के प्रति रुचि पैदा होती थी क्योंकि जैसा आचार्य शुक्ल ने कहा कविता में चमत्कार का गुण होता है। यही चमत्कार पाठक श्रोता के सर चढ़ कर उसे साहित्य की ओर ले जाता रहा था।

कविता न केवल छंद विहीन अपितु लय विहीन भी हो गई और लय विहीन सपाट शब्दावली किस मायने में कविता कहा जाए यह वाजिब सवाल आलोचक की निरंकुशता के नीचे दब गया। छान्दसिक कवियों को कविता के जलाशय में उतरने से पहले छंद शास्त्र अलंकार शास्त्र रूपक मिथक का ज्ञान अनिवार्य था, ठीक वैसे ही जैसे नदी में उतरने से पहले तैरना सीखना। छंद सीखते सीखते वे अपनी भाषा, अपने समाज व अपने देश की परम्पराएँ भी सीख जाते थे मगर छंद मुक्ति से तो वे बेलगाम जंगली घोड़ी से उश्रन्खल हो कूदने फांदने लगे। इससे कविता चोटिल, लहू-लोहान होने लगी। कविता की सांस टूटने लगी। आलोचकों ने फतवे दे दे कर इन्हें महाकवि तो ठहरा दिया, इन्हें मोटे मोटे ईनाम मान सम्मान भी दिलवा दिए मगर ये ईनाम मान सम्मान आदि महज वेंटिलेटर साबित हुए और कविता को जीवन दान देने में असफल हो गये और नामवर जैसे आलोचक को जिसने कभी कविता के

नये प्रतिमानों का उद्घोष किया था लिरिक की वापसी की दुहाई देनी पड़ी ठीक वैसे ही जैसे आधुनिक चिकित्सक सब प्रयास फेल होने पर कहता है कि अब मरीज को केवल दुआ ही बचा सकती है एक और अजीबो गरीब तथ्य यहाँ उजागर करना जरूरी हो जाता है कि चाहे नामवर हो या अशोक वाजपेयी छंद मुक्त कविता की पैरवी करते हुए अपने भाषणों में सदैव रामचरित मानस की चौपाइयाँ या उर्दू शेर ही उद्धृत करते पाए जाते हैं मुक्त छंद कवितांश कभी कभार ही उद्धरित करते हैं यहाँ एक और बात कहना आवश्यक है कहा जाता है कि छंद विधान अनेक बार हमारी अनुभूतियों को प्रगट करने में बाधा प्रस्तुत करता है लेकिन यह केवल उन लोगों की बात है, जिनको अपनी परम्परा का ज्ञान नहीं है, जिनके पास शब्द सम्पदा नहीं है जिनके पास शब्दों से खेलने का हुनर नहीं है बलबीर सिंह रंग, गोपाल सिंह गोपाली या दुष्यंत को छंद कभी आड़े नहीं आये

रिक्त छंद/ ब्लैक वर्स या मुक्त छंद

अंग्रेजी भाषा में रिक्त छंद/ ब्लैक वर्स या मुक्त छंद का पहला प्रलेखित उपयोग हेनरी हॉवर्ड, अर्ल ऑफ सरे ने अपने ऐनीड के अनुवाद में किया था (रचना सी. १५४०; प्रकाशित १५५४-१५५७ड४)। वह संभवतः लैटिन मूल से प्रेरित थे, क्योंकि शास्त्रीय लैटिन पद्य (साथ ही प्राचीन यूनानी पद्य) में तुकबंदी का उपयोग नहीं किया गया था; या हो सकता है कि वह इतालवी पद्य रूप से वर्सी स्कोल्टी से प्रेरित हो, जिसमें कोई तुक भी नहीं था। फेवरशम का नाटक आर्डन (लगभग १५९० एक अज्ञात लेखक द्वारा) एंड-स्टॉप रिक्त पद्य का एक उल्लेखनीय उदाहरण है।

थॉमस नॉर्टन और थॉमस सैकविले द्वारा १५६९ का नाटक गोरबोडुक रिक्त छंद का उपयोग करने वाला पहला अंग्रेजी नाटक था।

क्रिस्टोफर माली पहले अंग्रेजी लेखक थे जिन्होंने रिक्त पद्य की क्षमता का पूरा उपयोग किया। अंग्रेजी रिक्त पद्य में प्रमुख उपलब्धियाँ विलियम शेक्सपियर द्वारा प्राप्त की गई थीं, जिन्होंने अपने नाटकों की अधिकांश सामग्री को असंबद्ध आयंबिक पेंटामीटर में लिखा था, और जॉन मिल्टन, जिनके पैराडाइज लॉस्ट को रिक्त छंद

में लिखा गया है। १८ वीं शताब्दी में जेम्स थॉमसन (द सीजन्स में) और विलियम काउपर (द टास्क में) जैसे कवियों द्वारा मिल्टोनिक रिक्त कविता का व्यापक रूप से अनुकरण किया गया था। विलियम वर्ड्सवर्थ, पर्सी बिशे शेली और जॉन कीट्स जैसे रोमांटिक अंग्रेजी कवियों ने एक प्रमुख रूप के रूप में रिक्त कविता का इस्तेमाल किया। कुछ ही समय बाद, अल्फ्रेड, लॉर्ड टेनीसन विशेष रूप से रिक्त कविता के लिए समर्पित हो गए, उदाहरण के लिए उनकी लंबी कथा कविता 'द प्रिंसेस' में, साथ ही साथ उनकी सबसे प्रसिद्ध कविताओं में से एक: 'यूलिसिस' के लिए। अमेरिकी कवियों में, हार्ट क्रेन और वालेस स्टीवंस एक ऐसे समय में विस्तारित रचनाओं में रिक्त छंद का उपयोग करने के लिए उल्लेखनीय हैं, जब कई अन्य कवि मुक्त छंद की ओर रुख कर रहे थे

फ्री वर्स बनाम छंद मुक्त

वां पंथी कवियों ने बिना समझे की मुक्त छंद या छंद मुक्त कविता जनमानस में सदा से विद्यमान रही है : विशेषतः संसार भर के लोक गीतों में निराला जी का नाम लेकर कविता के मूल ढांचे को ध्वस्त कर डाला उन्होंने अक्सर तर्क दिया की अंग्रेजी में जो फ्री वर्स है वही हमारी छंद मुक्त कविता है अगर कहीं वे अंग्रेजी की फ्री वर्स व उस की समालोचना पढ़ लेते तो संभवत वे ऐसा नहीं करते लेकिन वे तो प्रभावित हुए थे सोवियत संघ और सोवियत लॉइ पत्रिकाओं में प्रकाशित हिन्दी व अंग्रेजी में अनूदित उन रूसी कविताओं से जो सोवियत क्रांति के बाद सर्वहारा वर्ग को मेसमेराइज़ करने को पार्टी के इशारे पर अब आप जानते है अनुवादक व अनुवाद की अपनी सीमा होती है

आइये अब जाने की अंग्रेजी में फ्री वर्स किसे कहते है ?

अंग्रेजी साहित्यकार 'केनेथ अलाट' के मुताबिक ' हालाँकि मुक्त छंद के लिए किसी मीटर, तुकबंदी या अन्य पारंपरिक काव्य तकनीकों की आवश्यकता नहीं होती है यानि, मुक्त छंद में बहुत अधिक पैटर्न और अनुशासन नहीं पाया जाता : ध्वनियों का आंतरिक पैटर्न, सटीक शब्दों का चुनाव, और शब्द समूहों का प्रभाव मुक्त छंद को इसकी सुंदरता देता है।

मीटर, तुकबंदी या अन्य पारंपरिक काव्य तकनीकों के बिना भी एक कवि संरचना की कुछ समझ पैदा करने के लिए उनका उपयोग कर सकता है। इसका एक स्पष्ट उदाहरण वॉल्ट व्हिटमैन की कविताओं में पाया जा सकता है, जहां वह कुछ वाक्यांशों को दोहराता है और एक लय और संरचना दोनों बनाने के लिए अल्पविराम का उपयोग करता है। इमेजिस्ट्स कवियों के लिए मुक्त छंद एक अनुशासन बन गया और इसने एक वैध काव्य रूप के रूप में दर्जा हासिल कर लिया।

वर्स लिब्रे, अधिकतर अनियमित लय का उपयोग करने की तकनीक जिसे १९ वीं शताब्दी के फ्रांसीसी कवियों की कविताओं में पाया गया है।

विलियम कालीस विलियमस ने कहा, 'कविता एक कला होने के नाते, बिना किसी सीमा या मार्गदर्शक सिद्धांतों के अर्थ से मुक्त नहीं हो सकती है' पूर्वनिर्धारित रूप की कमी के कारण, मुक्त छंद कविताओं में वास्तव में अद्वितीय अभिव्यक्ति की क्षमता है।

यानि मुक्त छंद पूर्णतः मुक्त नहीं है। टीएस एलियट ने लिखा, 'कोई भी कविता काव्य विधान से पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हो सकती'

अमेरिकी आलोचक जॉन लिविंगस्टन लोव्स ने कहा कि 'मुक्त छंद को बहुत सुंदर गद्य के रूप में लिखा जा सकता है; गद्य को बहुत सुंदर मुक्त छंद के रूप में लिखा जा सकता है। कौन सा है? यह जानना कठिन है' यानि मुक्त छंद सिवाय गद्य के कुछ नहीं है' कविता से खिलवाड़

इन लोगों ने अपनी अकर्मण्यता, अपनी नाकामी छुपाने के लिये मुक्त छंद का सहारा लेकर, न केवल छंद को कविता से बाहर कर दिया। कविता जो शब्दों और भावों की कलात्मक बुनकरी कहलाती आ रही थी उसे निर्वस्त्र कर दिया। कविता की ही नहीं साहित्य की सभी मर्यादाओं को तिलांजलि दे डाली। इन्हीं दिनों अकविता नाम से भी एक वाद, अकविता पत्रिका माध्यम से खड़ा करने की नाकाम कोशिश हुई मगर उसका हश्र भी अकहानी आन्दोलन सरीखा हुआ। मगर इन तथाकथित आन्दोलनों से कविता को काफी नुकसान हुआ, इस अराजक काल में कवि ही नहीं कवयित्रियां भी कविता के साथ भयावह खिलवाड़ कर रही हैं। शब्दों भावों की भयावह संरचना व भौंडे

बिम्बों मिथकों द्वारा। 'बनाना सुग' नामक एक उभयलिंगी कीट की तरह ये लोग आत्मरति में आनन्द मग्न दिख रहे हैं। इस काल में स्वनामधन्य कवि रहे सर्वश्री- जगदीश चतुर्वेदी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, श्याम परमार, सौमित्र मोहन आदि- इन तथाकथित कवियों ने कविता-साहित्य की सभी मर्यादाओं को ताक पर रख दिया।

शायद ये बदनाम हुए तो क्या हुए नाम तो हुआ कि हवा पर सवार हैं आज भी कुछ लोग इस राह पर चल रहे हैं। इसकाल के कुछ नमूने देखें-

१. प्रतिज्ञा की अन्तिम कड़ी में /उसकी गुप्त योनि मेरे सन्निकट निर्वसन पड़ी है/और मैं कराह रहा हूँ।

२. रोते हुए कुत्ते खंडित दीवारों के पास/निद्रा में चौक जाती है बेखौफ लड़कियाँ/घायल गौरैय्यों सी फडफड़ाती है उनकी देह/

और बिस्तर में रेंगते हैं, गिल बिले सर्पों के/मानव लिंगीय आकार। (जगदीश चतुर्वेदी की कलम से)

३. बिना किसी विशेषण के/उसकी पिंडलियों में गुदगुदी करते/हुए मैंने उस औरत को रात के अंधेरे में पहचाना

मैल और रज में सने उसके अग्रभाग को सूँघकर/कुत्ते की तरह हवा में ठहरे रहा। (सौमित्र मोहन)

४. सुबह होने से लेकर दिन डूबने तक/मैं इंतजार करती हूँ रात का/जब हम दोनों एक दूसरे को चाटेंगे।

विवाह के बाद जिंदा रहने के लिये/जानवर बनना बहुत जरूरी है।

५. क्या ऐसा संभव नहीं/कि मैं इतनी

हृदयहीन हो जाऊँ कि एक साथ/बहुत से लडकों से प्यार कर सकूँ। (मोना गुलाटी)

६. एक गुफा है/मेरी नाभि के नीचे!/अपनी ही खूँखारिता से थके

शेर-चीते-अजगर/आते हैं कुछ देर सोने यहाँ पर!

एक नये आखेट की खातिर/जाते हैं जब अगले दिन बाहर, उनके वे टूटे नाखून/राल, केंचुल

एक अजब बहनापे से देखते हैं मुझे! (अनामिका)

इसी काल तक आते -आते अधिकांश हिंदी कविता लयात्मकता के अभाव में अपठनीय, उबाऊ ही नहीं अपने भौंडे प्रतिमानों के कारण अश्लीलता की जद में आ चुकी थी

ये पथभर्त्त लोग जो खुद को महान कवि कह रहे थे , संस्कृत में एक श्लोक है .. उष्ट्रानाम विवाहेषु गीतं गायन्ति गर्दभाः । परस्पर प्रशंसन्ति अहो रूपं अहो ध्वनि ॥ ऊंटों के विवाह में गधे गीत गा रहे हैं और आपस में प्रशंसा कर रहे वाह क्या गीत है वाह क्या आवाज इसुर . है की तर्ज पर एक दूसरे की पीठ थपथपा रहे थे ये खेल अभी तक जारी है इन लोगों ने न केवल कविता अपितु साहित्य को जन मानस से दूर कर दिया और इस तरह हिन्दी क्षेत्र की कई पीढ़ियों को उसकी परंपरा संस्कृति से दूर कर दिया इन्हे साहित्य के , कविता के उद्देश्य की समझ ही नहीं रही अक्सर यह फतवा दे दिया जाता है कि साहित्य या पुस्तकों लोगों से दूर होते जा रहे हैं। लेकिन लेखक कवि अपनी गरेबान में नहीं झाँकते

कविता का उद्देश्य विद्वानों का कहना है कि साहित्य या कलाएं मनुष्य को एक जीव या पशु से अलग पहचान देती हैं कविता इस मायने में सवीच्च स्थान रखती है

१-कविता विकासात्मक शिक्षा का अच्छा साधन है बाल शिक्षा में, बच्चों के मौखिक और लिखित कौशल शुरुआत में कुछ हद तक अविकसित रहता है। कविता कि लय-ताल उसे पढ़ाई के आनन्द से अवगत करवा कर पढ़ने में मदद करती है, शब्दों और ताल का मेल जोल से शब्दों की संज्ञानकता ड निहित अर्थ . समझने मदद मिलती है बच्चा यह भी समझने लगता है कि कौन से शब्द कहां फिट होते हैं यानि वाक्य में उनका स्थान कहाँ है । इसके अतिरिक्त, यह बच्चों को रचनात्मक अभिव्यक्ति की कला सिखाती है, जो कि नए युग के शैक्षिक परिदृश्य में सबसे अधिक कमी पाई गई। संक्षेप में, कविता उन्हें स्वयं के विकास के लिए एक महान उपकरण देती है।

२. कौशल विकास

कविता का उपयोग लिखने , बोलने और समझने का बहुत प्रभावित दूल या उपकरण है । लिखने के नियम सीखना, और फिर उन्हें कविता से जोड़ना, लेखन को वैकल्पिक सुंदरता दे सकता है। अपनी ताल, लय और तुकबंदी के साथ कविता को जोर से बोलना जीभ को

अटकने ड स्टेम्मेरिंग .से निजात दिला सकता है साथ ही बात चीत का कौशल सीखने में मदद करता है । कविता को समझना सीखना मानसिक इमोशु दृढ़ता के लिए ड्राइव भी देता है।

३. वैचारिक कौशल

पसंद कि कविता को चुनना, क्लासिक कवियों के विभिन्न अंशों को पढ़ना उन विचारों को विकसित कर सकता है जिन्हें हम पहले कभी नहीं जानते थे। कविता पढ़ना और लिखना आपको नए विचारों के बारे में सोचने पर मजबूर करता है, यह आपके पुराने विचारों ड रूढ़िवादिता .को नाटकीय रूप से बदल भी सकता है। यह अनुभवों, दृश्य विवरणों और भावनाओं को संसाधित करने का एक तरीका है।

४. कविता पाठक व लेखक दोनों हेतु चिकित्सीय प्रभाव रखती है

यानि पोएट्री थेरेपी एक रचनात्मक कला चिकित्सा है जो लिखित शब्द का उपयोग करके समझने, और फिर संवाद, भावनाओं और विचारों का उपयोग करती है। लेखक को कविता लिखना प्रसव पीड़ा से गुजर कर संतान प्राप्ति के सुख जैसा आनन्द देती है जहां लेखक अपनी पीड़ा, उद्वेग कागज पर उतार कर उनसे छुटकारा पा संतोष अनुभव करता है

वहीं पाठक विशेषतः छोटी कविताएं यथा दोहे , चौपाई , शेर के माध्यम से हम अनेक भावनाओं के संपर्क में आते हैं । आपने देखा होगा महसूस किया होगा कि अनेक बार कविता या गाना सुन कर हम अपनी भावना को भावना को लगी ठेस को तिरोहित हुआ पाते हैं मानसिक बीमारियों अवसाद और चिंता में कविता दिमाग के चारों ओर बनने वाली बाधाओं और अवरोधों को समझना शुरु कर सकता है उनसे निजात दिलाने में मदद कर सकती है । कई बार ऐसी स्थिति होती है कि हम अपने मनोभावों को शब्द देने में असमर्थ हो जाते हैं ऐसे में कोई कविता या गाना सुनकर गुन-गुना कर उसे खुद से व्यक्त कर लेते हैं कविता मनोभावों के सबसे अच्छे आउटलेट्स में से एक है।

जिन लोगों के लिए खुद को व्यक्त करना में कठिन होता है, उनके लिए कविता पढ़ने का उतना ही सकारात्मक

प्रभाव हो सकता है जितना कि इसे लिखना। कविता पढ़ने से व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की आत्मा में देख सकता है, देख सकता है कि उनके दिमाग और उनके दिलों पर क्या भार पड़ रहा है, और उन भावनाओं के लिए दरवाजे खोल सकते हैं जिन्हें कभी-कभी दबा दिया जाता है जब तक कि वह दरवाजा नहीं खुल जाता। पढ़ना दिल और दिमाग के उन सभी अंधेरे और छिपे हुए दरारों पर प्रकाश डाल सकता है, जिन्हें एक बार दुनिया के लिए स्थायी रूप से बंद कर दिया गया था।

५ . कविता शब्दों के महत्व को समझने में मदद करती है

कविता की बुनकरी ड शब्द- विन्यास , से कविता लिखने और पढ़ने से हर एक शब्द का महत्व और उनके स्थान को समझ में आने लगता है। कभी-कभी एक शब्द का होना या न होना कविता की पूरी लय और अर्थ को ही बदल सकता है। कविता लिखना व्यक्ति को उनके छंदों के प्रत्येक अंश और लंबाई पर विचार करने और पुनर्विचार करने के लिए मजबूर करता है। कविता शब्द चयन व शब्द बुनकरी से एक जादुई माहौल बनाकर गहन अभिव्यक्ति को सरल एवं मारक बना पेश कर सकती कविता के टुकड़ों में प्रदान की गई नाजुक वाक्य संरचनाओं को संभालने की काला से कवि को और कविता को प्रशंसा प्राप्त होती है।

६ . कविता खुद को और दूसरों को समझने में मदद करती है

वर्तमान युग समय के अभाव ,गलत कम्युनिकेशन से गलतफहमी व निराशा उत्पन्न कर रहा है । कविता पढ़ना और लिखना वास्तव में लोगों को दूसरों को समझने की बेहतर क्षमता देता है। एक लेखक को अपने लेखन से सामाजिक ही नहीं पारिवारिकसमस्या व समाधान को किसी अज्ञात पाठक तक पहुँचाने में सक्षम होना चाहिए, सुघड़ लेखक ऐसा कर सकता है ।

क्या आपने कभी सोचा है कि आप एक निश्चित तरीके से क्यों सोच रहे हैं या महसूस कर रहे हैं? क्या आप कभी निराश हुए हैं क्योंकि आपके दोस्त या पार्टनर आपको कभी समझ नहीं पाए क्योंकि आप यह भी नहीं समझते कि आपके दिमाग में क्या चल रहा है? मैंने पाया है कि आंतरिक उथल-पुथल को समझने का सबसे अच्छा तरीका कविता लिखना है। यह आपके आसपास की दुनिया को

धीमा कर देता है। यह आपके विचारों को छोटे, सीधे वाक्यों में सुव्यवस्थित करता है, जबकि गेय शैली के साथ आपके शरीर से चिंता को दूर करता है। वह आपको सोचने पर मजबूर करता है। यह इस बात पर प्रकाश डालता है कि मुद्दे क्या हो सकते हैं और आपको तार्किक और व्यवस्थित रूप से इसका उत्तर देने के लिए मजबूर करता है। कविता हमें वह अंतर्दृष्टि दे सकती है जिसे हम कभी नहीं जानते थे लेकिन हमेशा समझना चाहते थे। स्वयं के मूल्य को न जानने से बड़ा कोई दुख नहीं है, लेकिन किसी की पहचान को पूरी तरह से समझने से बड़ी कोई शक्ति नहीं है। कविता आपको वह शक्ति दे सकती है। यथा

शक तो मन में बैठा है / घर को क्यों खंगाल रहा है
पढ़ सुनकर क्या पाठक अपने मन में बैठे शक को जो घर में कलह का कारण बन गया है समझ के उपाय का प्यत्र नहीं करेगा

या

हर मुश्किल का हल होगा / आज नहीं तो कल होगा
एक पाठक को निराश के समंदर से बाहर आने को प्रेरित नहीं करेगा

उसको गर परखा नहीं होता सखा / घर आपका टूटा नहीं होता सखा

उनकी बातें हुई झिड़कियों की तरह / जख्म मर खुले खिड़कियों की तरह शायद किसी गुस्सेल को अपने बारे में सोचने को प्रेरित करें स्वभाव को बदलने के प्रेरित करे इसका मतलब है कि कविता पाठक श्रोता को , किसी और के दिल दिमाग से हालात को देखने समझने अपनी गलती जानने और दूसरे व्यक्ति के लिए सहानुभूति पैदा करने का धैर्य दे सकती है

भाषा की समृद्धता को सुनिश्चित करना

कविता शब्दों को सहेजती है , नए अर्थ देती है कविता नए शब्द व मुहावरे गढ़ती है यही नहीं कविता विलुप्त हाओटे शब्दों , मुहावरों को न जीवन प्रदान कर भाषा को समृद्ध करती है जीवंत बनाती है

कविता का सामाजिक योगदान

कविता मात्र कर्ण प्रिय अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि वही कविता, सार्थक कविता कहला सकती है जो कानों के माध्यम से दिल में उतर कर उसे आंदोलित कर दुखियों

पीड़ितों वंचितों हेतु संवेदनशील बनाएँ जो समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने में सहायक बनेँ यथा आजादी के संघर्ष में - खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी

या भारत चीन के युद्ध के बाद कवि प्रदीप का यह गीत -
ऐ मर वतन के लोगो

स्वनाम धन्य , हिन्दी के प्रकांड विद्वान आचार्य महावीर प्रसाद जी ने कवि-कविता के बारे में बहुत विस्तार से लिखा है उसका कुछ अंश देखें

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रत्येक युग के भाव को उस युग के साहित्य में अभिव्यक्ति के आधार पर एक तरह से भारतीय साहित्य का इतिहास लिख दिया है। वे लिखते हैं- प्राचीन काल में सभी कवि प्रकृति की देदीप्यमान शक्तियों का गान करते हैं। इसके बाद कवि वीरों का यशोगान करते हैं। इसके बाद नाटकों की सृष्टि होती है। फिर श्रृंगार रस पर काव्य रचना होती है। भाषा का माधुर्य बढ़ता है, अलंकारों की ध्वनि सुनाई पड़ती है और पद नैपुण्य प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सांसारिक विषयों से घृणा होती है। भक्ति के उन्मेष में कोई प्रकृति का आश्रय लेता है तो कोई प्राचीन आदर्शों का।

इस तरह भविष्य की कविता के बारे में बताते हैं। उनका मानना है कि आधुनिक काल का भाव मनुष्य केन्द्रित है इसलिए आगे की कविता भी मनुष्य केन्द्रित ही होगी। मनुष्य में भी साधारण मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति आधुनिक कविता में होगी।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ज़ोर देकर कहा है कि भविष्य कवि का लक्ष्य इधर ही होगा। आधुनिक काल से पहले का कवि मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखाने से निकले हुए मैले मजदूरों को अपने काव्य का नायक नहीं बनाना चाहता था। वह राजस्तुति, वीरगाथा, अथवा प्रकृति वर्णन में ही लीन रहता था। परन्तु अब वह क्षुद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत का रहस्य सबको विदित होगा। जगत का रहस्य क्या है, इस पर एक ने कहा है कि असाधारणता में रहस्य नहीं है। जो साधारण है वही रहस्यमय है: वही अनंत सौंदर्य से युक्त है। इसी सौंदर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य कवियों का काम होगा।

१९०१ ई. में 'सरस्वती' में प्रकाशित अपने 'कवि-कर्तव्य' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा था - 'कविता का विषय

मनोरंजन एवं उपदेशात्मक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अब्दुत-अब्दुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त जीव, भिक्षु से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिंदु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत-सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है। यदि 'मेघनादवध' अथवा 'यशवंतराव महाकाव्य' वे नहीं लिख सकते तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविताएँ करनी चाहिए।' (रसज्ञ रंजन, पृ. २३) द्विवेदी जी के इस निर्देश का पालन उनके युग के कवियों ने किया था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है।

द्विवेदी जी का साहित्यिक आदर्श क्या था? इसका कुछ आभास ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे मिल जाता है। सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि उनकी दृष्टि उपयोगितावादी थी। वे 'कला कला के लिए' नहीं मानते थे। वे साहित्य के माध्यम से लोगों की रुचि का परिष्कार करना चाहते थे। वे कविता को न तो शब्द-क्रीड़ा मानते थे और न ही मानसिक विलास की चीज़। हिंदी के कवि से उनकी अपेक्षा थी कि 'वह लोगों की रुचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नयी कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाए। पढ़ने वालों के मन में नयी-नयी उपमाओं को, नये-नये शब्दों को और नये-नये विचारों को समझने की योग्यता उत्पन्न करना कवि ही का कर्तव्य है'

आचार्य ने एक जगह यह भी कहा है कि बोल चाल की भाषा में लिखने हेतु कवि को उर्दू छंद इस्तेमाल करना चाहिए

सितंबर १९२० की 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित।

यह अंश डॉ अरुण कुमार के लोक मंच पत्रिका में छपे लेख से

कविता' की परिभाषा को कविता के माध्यम से समझें। युवा शायर और कवि बागी विकास (इलाहाबाद) कहते हैं कि,

'कविता' राजा-रानी के सिंहासन का गुणगान नहीं
'कविता' चंद्रबरदाई की पीढ़ी का अभियान नहीं
'कविता' नारी के शरीर की सुन्दरता का शोध नहीं
'कविता' केवल कुछ शब्दों की तुकबंदी का बोध नहीं...
जो अनाथ बच्चों की पीड़ा कह पाए वो 'कविता' है
जो माँ के अश्रुओं के संग-संग बह पाए वो 'कविता' है
जो सुनने-पढ़ने वालों को याद रहे वो 'कविता' है

जो कवि के मर जाने के भी बाद रहे वो 'कविता' है...'

- बागी विकास

कविता आज परेशान क्यों है~

बाहरी ज़रूरतें आन्तरिक ज़रूरतों पर इस कदर हावी हैं कि व्यक्ति लगातार अन्दर से खोखला होता जा रहा है। 'ग्लोब' पर खड़ा होकर वह पूरी दुनिया को देख तो रहा है, किन्तु महसूस कुछ भी नहीं कर पा रहा। देखने और महसूस करने के बीच की दूरी इतनी बढ़ गयी है कि यह देखते हुए भी कि इस तथाकथित व्यवस्था में कोई पिस रहा है या पीसा जा रहा है हम क्रियाशील नहीं होते क्योंकि स्वयं को लगता है कि हम सुरक्षित हैं। निरंतर घटनाओं या हादसों के बीच रहते हुए भी, आत्मिक स्तर पर इनके अर्थों का कोई संसार हमारे भीतर नहीं बन पाता। कविताएं मनुष्य के बीच ऐसे ही संसार का निर्माण कर जिसे संवेदना कहते हैं, , इन्सानियत को ज़िंदा रखने के लिए प्रयत्नशील हैं।

आधुनिक युग में मुक्त बाज़ार, उपभोक्तावाद, विज्ञापन, उपग्रह, संचार माध्यम, वैश्विक अर्थव्यवस्था आदि ने एक ऐसे परिदृश्य का निर्माण किया है कि मनुष्य की बाहरीज़रूरतों के सामने, उसकी आन्तरिक पहचान निरस्त होती जा रही है। धैर्य, सहिष्णुता और उदारता को रौंदकर उग्रता, आक्रामकता, हिंसा, लूटखसोट जैसे नये संकल्प स्थापित हो रहे हैं। संकल्प-विकल्प विवशता में विवेक बुद्धि किंकर्तव्य विमूढ़ता, अनुसंधान आपाधापी या

लूटखसोट में और सम्बन्ध केवल स्वार्थ में बदल कर रह गये हैं। कविता मनुष्य के इसी असंतुलित या घायल अन्तःकरण को संतुलित या ज़िंदा रखने की साधना है। आज का दौर 'शार्ट कट' का मुरीद है। साहित्यिक उर्वरा की बात करें तो प्रबन्ध काव्य की परम्परा लगभग लुप्त हो चुकी है। मल्टीमीडिया के दौर में 'फेस टू फेस' के स्थान पर 'फेसबुक' पसरी पड़ी है। सुन्दर लेखनी में लिखी भावनाओं से सराबोर चिट्ठी की जगह भाषा का व्यभिचार करती एसएमएस पद्धति हावी हो गयी है। कलम की बजाय अंगूठा महत्वपूर्ण हो गया है फिर चाहे वह किसी को दिखाना हो या मोबाइल का बटन दबाना हो। अब सवाल यह है कि २४ घंटे को २५ घण्टे में तब्दील करने की जुगाड़ में जुटा आदमी आखिर एक बड़े काव्य रूप या कविता से कैसे जुड़े ?-डॉ अंजु थापा

डॉ श्याम सखा श्याम

पंचकुला डचंडीगढ़, ८३६०२१९१३६

Shyamskha1973@gmail.com

दाम्पत्य और व्यक्तित्व का संबंध

डॉ.किंगसन सिंह पटेल

एसोसिएट प्रो. , हिन्दी विभाग,
कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी - 221004
मोबाइल नम्बर - ८३२०३८३५९०

‘जीवन की सबसे बड़ी विडंबना तो यही है कि हर व्यक्ति अपनी जगह सही होता है और वास्तविक संघर्ष सही और गलत के बीच न होकर सही और सही के बीच ही होता है।’

- ‘अंधेरे बंद कमरे’ के एक पात्र हरबंस का कथन पारम्परिक समाजों में विवाह और समाज का गठन ही इस प्रकार होता था कि उसमें समायोजन की अधिकतम जिम्मेदारी पत्नी पर डाल दी जाती थी। वधू अपने परिवार को छोड़कर पूरी तरह से अपरिचित परिवार (स्मरणीय है कि वर तथा वधू के परिवारों में कुछ पीढ़ियों तक का संबंध वर्जित हुआ करता था) में अधीनस्थ की भूमिका निभाने के लिए डाल दी जाती थी। पत्नी की अधीनस्थता को समझने के लिए यह याद करना पर्याप्त होगा कि छोटों के प्रति स्नेह से लेकर बड़ों के सम्मान तक सभी के प्रति उसके कर्तव्य निर्धारित थे- इन सबका का मतलब एक ही था, वह यह कि वधू सभी की इच्छाओं को पूरा करे, सभी को संतुष्ट करे। एक पूरी तरह से अपरिचित समुदाय के भीतर सही सलामत रहने के लिए स्त्री के पास इसके अलावा कोई विकल्प भी नहीं था। अपने परिवार

के आत्मीय सदस्यों को छोड़कर अपरिचितों के बीच अनिश्चित भविष्य के लिए जाना बहुत सहज नहीं था, इसलिए स्त्री को तैयार करने के लिए तरह-तरह के उपकरण, प्रलोभन और व्याख्याएँ मौजूद थीं। उसका अपना घर उसे लगातार याद दिलाता था कि वह ‘पराया धन’ है, किसी भी तरह की निजी संपत्ति से वंचित स्त्री को उसके ‘अपने’ घर के सपने तरह-तरह से लगातार दिखाए जाते थे, कल्पना के उस ‘अपने’ घर में एक व्यक्ति ऐसा भी होता था, जो पूरी तरह से उसका ‘अपना’ हुआ करता था। शुचिता की धारणा और कड़ी निगरानी के जरिए एक ओर किसी भी तरह के रत्यात्मक अनुभवों पर रोक और दूसरी तरफ किस्सा-कहानियों से लेकर भाभियों तक की छेड़छाड़ के जरिए रत्यात्मकता के महिमामंडन के बीच वह अकल्पनीय सुख का पर्याय बन जाता था। पत्नीत्व और मातृत्व के बिना स्त्रीत्व के अधूरे और निरर्थक जीवन के मिथकों के बीच स्त्री स्वयं यह महसूस करने लगती थी कि वह अपनी शुचिता के रूप में दुनिया का सर्वश्रेष्ठ उपहार पति के लिए सजोए है, जिसे देकर ही उसका जीवन सार्थक होगा।

जिनका वर्तमान संतोषजनक नहीं होता, उन्हें या तो भविष्य की कल्पनाएँ बहुत आकर्षित करती हैं या अतीत की स्मृतियाँ- स्त्री का जीवन ऐसा ही था। विवाह के पहले घर के दबावों, सभी की अधीनता के बीच स्त्री उस भावी जीवन का उत्कंठा से इंतजार और कल्पना किया करती थी और विवाह के कुछ वर्षों बाद बचपन के दिनों की स्वतंत्रता की। विवाह के तत्काल बाद जिस तरह कुछ समय तक वधुओं की देखभाल और आवभगत और कुछ मात्रा में सम्मान किया जाता था, वह आत्मीयता के लिहाज से तो अनुकूल होता ही था, लेकिन इससे भी बढ़कर वह दाम्पत्य की कल्पनाओं से मोहभंग के आघात को कम करता था। बहुत जल्दी स्त्री नए परिवार में अपनी हैसियत और नियति दोनों को पहचान लेती थी, उस व्यवस्था में प्रमोशन तो था, लेकिन बहुत धीमी गति से, बहुत कुछ खो चुकने के बाद। आश्चर्य जनक बात यह थी कि मोहभंग के बाद स्त्री बहुत जल्दी अपने आपको समझा लेती थी कि 'यही मेरा नसीब है', विवाह का मिथक फिर भी टूटता नहीं था- दूसरों का 'नसीब' अच्छा भी हो सकता था। काम पहले भी करना पड़ता था, अब और भी ज्यादा; हालाँकि कहने को अब सचमुच उसके पास 'अपना घर' और 'अपना पति' होता था, निःसंदेह इसका आभास उसे होता ही रहा होगा कि इस 'अपना' में बहुत सारे लोगों का साझा है। फिर भी स्त्रियाँ संतुष्ट दिखती थीं- यह नकटे का ब्रह्म दर्शन था।

परिवर्तन पुरुषों की भी जिंदगी में आता था, लेकिन बहुत कम। न तो उन्हें अपना घर छोड़ना पड़ता था, न ही किसी नए मालिक की अधीनता स्वीकारनी होती थी, बल्कि इसके ठीक उलट उन्हें एक ऐसा व्यक्ति मिल जाता था जो उनका अधीनस्थ था, उन्हें किसी भी कीमत पर संतुष्ट करने के लिए तत्पर था। मोहभंग पुरुषों का भी होता था, क्योंकि विवाह जीवन में कोई अकल्पनीय खुशियाँ नहीं लाता था और वे भी इसे 'अपना नसीब' मानकर संतोष करते थे।

बहरहाल, विवाह जीवन में अकल्पनीय खुशियाँ भले ही न लाता रहा हो, लेकिन बुनियादी जरूरतें लगभग पूरी हो ही जाती थीं। विवाह में एक 'स्थायित्व' था, कहने के लिए स्त्री के लिए भरण-पोषण, शारीरिक जरूरतों की

पूर्ति; पति के लिए भी शारीरिक जरूरतों की पूर्ति, संतानोत्पत्ति और काम करने वाला एक अधीनस्थ मिल जाता था, लेकिन स्त्री की जरूरतें कितनी हैं, इसका फैसला भी परिवार और पति ही कर लिया करता था। वैसे विवाह पति और पत्नी की जरूरतों को पूरा करने के लिए किए भी नहीं जाते थे और न ही उनसे उनकी जरूरतें पूछी जाती थीं। परिवार के वरिष्ठ सदस्य ही कब विवाह करना चाहिए और किससे करना चाहिए, इसका फैसला कर लिया करते थे। इसलिए विवाह की सबसे ज्यादा जरूरत परिवार को ही हुआ करती थी। विवाह से होने वाला लाभ, घर के काम में 'हाथ बंटाने' वाले एक सदस्य की जरूरत, वंश चलाने के लिए पुत्र की इच्छा, विवाह के लिए वर पक्ष को प्रेरित करने वाली सर्वाधिक महत्वपूर्ण जरूरतें थीं, जो नाप-तौलकर किए गए विवाह में अक्सर पूरी हो जाती थीं, हालाँकि शिकायत करने का कोई न कोई बहाना फिर भी मिल जाता था- यह वधू पक्ष को अधीनस्थ बनाए रखने के लिए जरूरी था। इसके साथ ही विवाह को एक उपकरण के तौर पर भी प्रयोग किया जाता था। बड़े होते हुए लड़के के भटकते कदमों को बांधने और जिम्मेदार बनाने के लिए भी उसका विवाह किया जा सकता था, लड़की तो खैर 'ताड़ की तरह' बढ़ती ही थी और उसका लड़की होना ही उसके विवाह की सबसे बड़ी जरूरत थी- जितनी जल्दी हो सके।

कुल मिलाकर यह कि जीवन जीने का यह ढाँचा पहले से मौजूद मिलता था और जिन जगहों पर रिवाज निर्देशित नहीं करते थे, वहाँ पर भी निर्देशन करने के लिए अनुभवी लोग पहले से तैयार बैठे होते थे; वधू खाने में क्या पकाए से लेकर कितने बच्चे पैदा करे और उन बच्चों का लिंग क्या हो यह सब 'अनुभवी' लोग ही तय कर लिया करते थे। दम्पतियों का काम निर्देशों का पालन करना था- नएपन की बहुत गुंजाइश उसमें नहीं हुआ करती थी। संयुक्त परिवारों में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए कामों की कोई कमी नहीं हुआ करती थी और काम न करने वाले सामाजिक भर्त्सना का शिकार हुआ करते थे। संयुक्त परिवारों में दम्पतियों की गोपनीयता के लिए बहुत अवकाश नहीं था- नतीजतन प्रदत्त भूमिकाओं के बीच 'भावनात्मक सहयोग' की संभावना भी बहुत कम

हुआ करती थी- जिसे पति-पत्नी का एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथ देना कहा जाता है, वह असल में एक आर्थिक इकाई का साझा सुख-दुःख था, 'एक-दूसरे का' नहीं; इसलिए उसमें साथ दिए बगैर गुजर संभव ही नहीं थी। भावनाएँ बोलकर प्रकट करने की बजाय जिम्मेदारियों को निभाने की शक्ल में प्रकट की जाती थी। पत्नी की पसंद की कोई चीज बिना माँगे परिवार से छुपाकर उसे देना और बिना जबरदस्ती वाला शारीरिक प्रेम करना, प्रेम का यही तरीका था; कबीर तक को लगता था कि 'एकमेक है सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे'! बहुत अच्छे संबंध वे होते थे, जिनमें मार-पिट्टाई की नौबत नहीं आती थी, हालाँकि औरतें ऐसा भी कहती हैं कि 'जो प्यार करता है, वही तो पीटता है'।

आधुनिक औद्योगिक समाजों में पारंपरिक प्राक् औद्योगिक समाजों की भाँति परिवार उत्पादन की इकाई नहीं रह गया है, नतीजतन प्रत्येक सदस्य को परिवार के बाहर अपना भविष्य तलाशने की कोशिश करनी पड़ रही है; इसके परिणामस्वरूप सदस्यों की गतिविधियाँ, रुचि के क्षेत्रों में विविधता आई है। शहरी एकल परिवारों में एक व्यक्ति पर बड़े परिवार की जरूरतों के अनुसार अपना अनुकूलन करने का दबाव खत्म हुआ है, परिवार के भीतर ही अपनी निर्धारित भूमिका ग्रहण कर लेने की बजाय बाहर अपनी जगह खुद बनाने के लिए अपने-आपको दूसरों से अलग, सुयोग्य सिद्ध करने की कोशिश करनी पड़ रही है; वहीं परिवार एक ऐसी जगह बना है जो एक 'प्राइवेट स्पेस' है, जिसमें बाहरी समुदाय का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं के बराबर है। परिवार के भीतर निभाई जाने वाली भूमिकाएँ भी बदल गई हैं और साथ ही उनका नियमन/निर्देशन अब बाहरी रीति-रिवाजों द्वारा नहीं हो रहा है।

आधुनिक समाजों में प्रस्थिति हालाँकि अब भी जीवन के अवसरों को निर्धारित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण कारक है, फिर भी अब शिक्षा से लेकर रोजगार तक में अपेक्षाकृत अधिक विकल्प मौजूद हैं, जिनमें चुनाव की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। हालाँकि भाग्यवादी शब्दावली अभी भी बरकरार है, लेकिन 'नसीब में जो लिखा है' के बदले 'आदमी अपना नसीब खुद बनाता है' का चलन बढ़

गया है। चुनाव की यह प्रवृत्ति दाम्पत्य संबंधों तक गई है, खासकर जब व्यक्ति अपेक्षाकृत एक खुले समाज में अधिक लोगों से मिल सकता है, जबकि काम पाने के लिए लगभग हर सदस्य मूल परिवार से दूर जाकर बसने पर मजबूर हो रहा हो- स्वयं चुनाव करना जरूरी कदम है। लोग बहुत साफ तौर पर बहुत सहज ढंग से यह कहते मिल जाते हैं कि 'जीवन किसे साथ बिताना है, मुझे या मेरे माँ-बाप को'! यही सबसे महत्वपूर्ण वजह है, जिसके चलते लोग अपने 'जीवनसाथी' का चुनाव करने को मजबूर हैं। भारत में यह स्थिति अभी गिने-चुने महानगरों, और विशेषकर मध्यवर्ग में ही देखने को मिल रही है; वजह यह है कि जहाँ निम्नवर्गीय परिवारों में सीमित संसाधन अभी भी कई सदस्यों की सहकारिता पर आधारित परिवार बनाए रखने की माँग कर रहे हैं; वहीं उच्च वर्ग के लिए विवाह लाभ और प्रतिष्ठा अर्जित करने का एक महत्वपूर्ण साधन होने के नाते माँ-बाप (विशेषकर बाद वाला, क्योंकि वही संपत्ति का मालिक है) का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप खत्म नहीं हुआ है, लेकिन सीमित वह भी हुआ है।

सामाजिक संरचना में हुए बुनियादी परिवर्तन और व्यक्तियों द्वारा स्वयं अपने दाम्पतिक साझेदार का चुनाव कर सकने के कारण विवाह की अनिवार्य अन्हताएँ बदल गई हैं। संतानोत्पत्ति हालाँकि बड़े पैमाने पर अब भी विवाह से संबंधित है, लेकिन कम बच्चों की जरूरत और इच्छा ने इसे विवाह का प्राथमिक कारण नहीं रहने दिया; यह दाम्पत्य की भावी योजनाओं में शामिल हो सकता है, लेकिन विवाह के लिए किसी व्यक्ति को प्रेरित करने वाली जरूरत बच्चों की तत्काल इच्छा नहीं है। मध्यवर्गीय दम्पति प्रायः देर से बच्चा पैदा करना अच्छा समझते हैं, इससे एक तो बच्चे के भविष्य के लिए आर्थिक संसाधन जुटाने में मदद मिलती है, वहीं स्वास्थ्य और सौंदर्य के प्रति स्त्रियों की अतिरिक्त सावधानी- जो कि बेवजह नहीं है और स्वयं पति भी कुछ समय तक 'विवाह का आनन्द' लेना चाहते हैं- भी बहुत हद तक इसका कारण है। 'अंधेरे बंद कमरे' की नीलिमा अपने कैरियर और सुन्दर बनी रहने की इच्छा के कारण ही अपनी बूढ़ी होती जाती शरीर से घबरा गई है। वह एक बच्चा पैदा करने के बाद अपने सौंदर्य के खराब हो जाने और मोटी, भद्दी, थल-

थल शरीर से बचने के लिए ही और कोई बच्चा पैदा नहीं करती। वह चाहती है कि वह युवा और जवान रहे “मैं नहीं चाहती कि मेरा शरीर थल-थल हो जाए और मैं अभी से बूढ़ी लगने लगूँ। मुझे बुढ़ापे से बहुत डर लगता है, और मैं कम से कम दस साल और ऐसी ही बनी रहना चाही हूँ।” ऐसी दम्पतियों की संख्या दुनिया भर में धीरे-धीरे बढ़ रही है जो बच्चा पैदा करना ही नहीं चाहते। तकनीकी विकास और सेवाओं की उपलब्धता के साथ-साथ परिवार के छोटे आकार ने घरेलू श्रमिक के रूप में स्त्री की उपयोगिता को घटाया है, हालाँकि खत्म तो बिल्कुल नहीं किया है। जिस तरह पहले संतानोत्पत्ति और श्रम को प्राथमिकता देते हुए बाकी को उससे सम्बद्ध ‘बाई प्रोडक्ट’ के रूप में देखा जाता था, उसके ठीक उलट अब ये स्वयं ‘बाई प्रोडक्ट’ बन गए हैं- विवाह करते समय शक्ति और उर्वरता की चिंता करने वाले अब कम बचे हुए हैं।

जो चीजें आज आधुनिक व्यक्ति को विवाह के लिए सर्वाधिक आकर्षित करती हैं वह हैं भावनात्मक सहयोग तथा सुरक्षा की जरूरत तथा सौंदर्यबोधीय जरूरतें। ‘न आने वाला कल’ का नायक अशोक सक्सेना भी अकेलेपन से मुक्ति पाने के लिए छोटा सा घर बना लेने की इच्छा रखता है “शादी से पहले एक बार मैंने उससे कहा भी था कि पैतीस की उम्र तक अकेला रहकर मैं अपने को बहुत पका हुआ महसूस करने लगा हूँ।” संयुक्त परिवारों में अत्यधिक विस्तृत नातेदारी व्यक्ति को अकेलेपन के बोध से मुक्ति एवं सुरक्षा की भावना दोनों प्रदान करती थी, लेकिन आज का व्यक्ति न सिर्फ अकेला है, बल्कि स्वयं अपने आप से विच्छिन्न हो गया है। इस विच्छिन्नता और अकेलेपन से मुक्ति पाने का कोई आसान रास्ता भी नहीं है, क्योंकि एक तो यह स्वयं प्रतियोगिता, प्रतिद्वंद्विता से निर्मित परिवेश की उपज है, दूसरे इस भाग-दौड़ वाले असुरक्षित माहौल में किसी के पास दूसरे के लिए बहुत समय नहीं है; कहना तो सब चाहते हैं, सुनना कोई नहीं चाहता। अस्तित्व की रक्षा के लिए व्यक्ति पैसे तो कमाता है- चाहे कम या ज्यादा- लेकिन उसे स्वयं अपने ऊपर खर्च कर देना- कमाना और खा जाना- किसी संतोष और सार्थकता की अनुभूति नहीं करा पाता। ऐसे बाजार में जहाँ हर चीज बिकाऊ हो, खुद को भी लगातार बेचना

पड़ रहा हो, व्यक्ति एक ऐसा संबंध चाहता है, जिसमें न वह किसी की कीमत लगा रहा हो, न कोई उसकी! एक ऐसी जगह जिसे कोई दूसरा बदल (जिम्) न सके। बाहरी दुनिया में व्यक्ति की औपचारिकता, सतर्क बनावटी आचरण उसे अपने सामने और असहाय बनाता है। बाहरी दुनिया में बनने वाला कोई संबंध ऐसा नहीं है, जिस पर स्थायी तौर भरोसा किया जा सके, निर्भर रहा जा सके- सिवाय दाम्पत्य के। व्यक्ति को एक ऐसे ‘अन्य’ की जरूरत है, जो उसका प्रतिद्वंद्वी न हो, जिससे अपना जीवन साझा किया जा सके, क्योंकि सुख बाँटने से दुगना और दुःख आधा हो जाता है।

सौंदर्येच्छा मानवीय स्वभाव है और वह उसके चयन को हमेशा प्रभावित करती है, लेकिन सौंदर्यबोध में द्रष्टा की अपनी दृष्टि (जो निःसंदेह सांस्कृतिक प्रभावों से सम्बद्ध होती है) का भी योगदान होता है। पहले उपयोगिता के सामने शारीरिक सुन्दरता को गौण स्थान मिलता था (खासकर इसलिए भी कि निष्पत्ति करने वालों को उसकी कोई जरूरत भी न थी), कुछ मामलों में तो जान-बूझकर सुन्दरता की उपेक्षा की जाती थी, क्योंकि जहाँ बहू सुन्दरता के जरिए बेटे को अपने जाल में बाँधकर उसे परिवार से अलग कर सकती थी, वहीं स्वयं सुन्दरता की बाहर वालों से सुरक्षा भी एक बड़ी समस्या थी। स्वयं चुनाव कर सकने की स्थिति में व्यक्तियों के लिए उनकी अपनी रुचि का महत्व अनिवार्य रूप से बढ़ा। तमाम विकल्पों में से उस विकल्प को क्यों न चुना जाए जो अच्छा लगता है! सौंदर्य का जो बाजार हमारे समाज ने विकसित किया, उसमें सुन्दरता स्त्री का सबसे प्रधान सद्गुण बन गई- विवाह के लिए सर्वाधिक वांछनीय अहता! कुरूप से कुरूप पुरुष अपने लिए सुन्दर स्त्री की कामना करता है। सुन्दर स्त्री की कामना आज का पुरुष केवल अपनी इच्छा के लिए ही नहीं करता, प्रदर्शन के लिए भी करता है; अगर सुन्दरता सभी पुरुषों की कामना है, तो सुन्दर स्त्री का पति होना गर्व की बात होगी ही।

विवाह के प्रसंग में व्यक्ति की प्रेरक इच्छाओं पर अलग-अलग विचार करने का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तियों को ये आवश्यकताएँ एक-दूसरे से असम्बद्ध ढंग से महसूस होती हैं। परिवार के बारे में चर्चा करते हुए मैं पिछले

अध्याय में दिखा चुकी हूँ कि परिवार विभिन्न जरूरतों को एक संश्लिष्ट ढंग से पूरा करता है, जिसमें एक तरह की भावनात्मकता भी शामिल होती है। स्वयं भावनात्मकता को व्यक्त होने के लिए मानवीय गतिविधियों को माध्यम बनाना ही पड़ता है और सच तो यह है कि जीवन की भौतिक आवश्यकताएँ जब भावनात्मक आवश्यकता में बदलती हैं तभी उनकी अनुभूति सघनतम रूप में होती है। दाम्पत्य जीवन में श्रम की भूमिका घटी जरूर है, लेकिन खत्म बिल्कुल नहीं हुई है। जब तक 'अपना घर' जैसी चीज मौजूद रहेगी, तब तक उससे जुड़े हुए 'घरेलू काम' भी मौजूद रहेंगे; और जब तक काम का 'लैंगिक चरित्र' बना रहेगा, तब तक घरेलू कामों को संपन्न करने वाले व्यक्ति का 'जेंडर' भी पूर्व निर्धारित हुआ करेगा। अधिकांश घरों में पत्नियाँ चाहे वे 'हाउस वाइफ' हों अथवा नौकरीपेशा, घरेलू काम करती ही हैं; यह घरेलू काम शारीरिक श्रम से भी जुड़ा हुआ भी हो सकता है अथवा सुरुचि संपन्न सजावट से जुड़ा हुआ बौद्धिक काम। अपने एक सर्वेक्षण में अमेरिकी समाजशास्त्री जेस्सी बर्नार्ड ने पाया कि कभी न विवाह करने वाली स्त्रियाँ औसतन अच्छी कमाई वाले पेशों में हैं, जबकि वे पुरुष जो कभी विवाह नहीं कर पाते, अधिकांशतः अपने सामाजिक संस्तर के 'तले' पर होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि विवाह अब भी स्त्रियों के लिए जीविका के एक प्रमुख स्रोत के रूप में काम करता है। लेकिन यह मानने की भूल नहीं करनी चाहिए कि सभी स्त्रियाँ आर्थिक सुरक्षा के लिए ही विवाह करती हैं; यह एक आनुभविक तथ्य है कि बहुत अच्छा कमा लेने वाली स्त्रियाँ भी विवाह करती हैं (यह अलग बात है कि प्रायः अपने से अधिक कमा लेने वाले पुरुष के साथ ही), जाहिर है कि भावनात्मक सुरक्षा की जरूरत भी विवाह का अत्यंत महत्वपूर्ण कारण है।

दाम्पत्य मनुष्य की कोई एक गतिविधि नहीं, बल्कि विवाह के बाद का लगभग सारा जीवन ही उसके दायरे में आ जाता है- सिवाय इसके कि पति या पत्नी या कभी-कभार दोनों धनार्जन तथा वस्तुओं और व्यावसायिक सेवाओं के विनिमय के लिए बाहरी दुनिया से जुड़े हुए होते हैं। बहरहाल, सौंदर्यच्छा तथा भावनात्मक सुरक्षा की जरूरत स्त्री तथा पुरुष दोनों में होती है, इसके अलावा जहाँ

अक्सर पति को घरेलू कामों के लिए भी पत्नी की जरूरत होती है, वहीं पत्नियों को भरण-पोषण के लिए पति की। किसी विशेष युगल का दाम्पत्य जीवन कैसा होगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि पति और पत्नी की अपने साझीदार से अपेक्षाएँ किस तरह की हैं, स्वयं दूसरे की अपेक्षाओं का कितना और कैसा बोध है तथा स्वयं दूसरा उन अपेक्षाओं पर कितना खरा उतरता है। दाम्पत्य जीवन की संतुष्टि या असंतुष्टि इस बात पर भी निर्भर करती है कि स्वयं विवाह से साझीदारों की किस तरह की कामनाएँ जुड़ी थीं।

आधुनिक काल में विशेषज्ञता के जो असंख्य क्षेत्र विकसित हुए, उनका एक परिणाम यह भी हुआ कि व्यक्ति का सामान्य समाजीकरण मात्र औसत जीवन जीने भर के लिए भी पर्याप्त नहीं रह गया है; और किसी विशेष क्षेत्र में विशेषज्ञता हासिल करने का अर्थ बाकी क्षेत्रों में सामान्य रह जाना है। खासकर स्त्रियों के लिए यह समस्या काफी मुश्किल साबित हो रही है, क्योंकि पहले जब स्त्रियाँ अपना सारा जीवन घर के दायरे में बिताती थीं तो इस प्रक्रिया में ही वे घरेलू कामों में दक्षता हासिल कर लेती थीं। स्त्रियों की आधुनिक शिक्षा कम से कम घरेलू कामों से लगभग स्वायत्त है। नतीजा यह है कि अधिकांश पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ विवाह के बाद उन भूमिकाओं को निभाने में काफी अक्षम महसूस करती हैं या उनके काम उनके पतियों को पूरी तरह संतुष्ट कर पाने में असमर्थ होते हैं। उदाहरण के लिए खाना पकाने की कला को ले सकते हैं, खासकर तरह-तरह के व्यंजन जब होटल में मिलने लगे हों तो पत्नियों के हाथ का बनाया खाना कहीं तक उनकी बराबरी कर सकता है- इसीलिए बहुत सारी समझदार स्त्रियाँ शादी के बाद 'पाकशास्त्र' के पाठ्यक्रमों में दाखिला ले लेती हैं। बहरहाल, जब लगभग सारी घरेलू सेवाएँ व्यावसायिक जगत द्वारा उपलब्ध कराई जा रही हों, तो पत्नियाँ अपने काम के जरिए खुद को पतियों के लिए अपरिहार्य नहीं बना सकतीं।

लेकिन पति भी पत्नियों की भौतिक जरूरतों को पूरा करने में सफल हो पा रहे हैं, यह भी संदिग्ध है। पुराने संयुक्त परिवार जैसा पैदा करते थे, वैसा ही उपभोग भी करते थे; बाजार परिवार से काफी दूर था और प्रायः

भिन्न उपभोग-स्तर वाले दूसरे परिवार भी उनसे दूर हुआ करते थे, कम से कम लोग जानते थे कि उनका नसीब क्या है। आज जब वस्तुओं का अम्बार आँखों के सामने मौजूद हो और हर वस्तु व्यक्ति के अंदर खुद उपभोग की जरूरत पैदा कर रही हो, खासकर पड़ोसी और परिचितों द्वारा उन वस्तुओं के उपभोग का प्रदर्शन देखने वाले को हीन बना देता हो, तब 'संतोष' कोई नैतिक सदगुण नहीं बल्कि अपने-आपको दिए जाने वाले भुलावे का पर्याय बन जाता है। विवाह भौतिक जरूरतों, भरण-पोषण का दावा जरूर करता है, लेकिन भौतिक जरूरतें कोई स्थिर और निरपेक्ष चीज नहीं हैं, बल्कि दाता और ग्रहिता की अपनी-अपनी क्षमताओं और कामनाओं से निर्धारित होने वाली चीज हैं।

भौतिक जरूरतों से भी अधिक दयनीय स्थिति सौंदर्यबोधीय जरूरतों के क्षेत्र में है। सभी जानते हैं कि 'पेट भर जाता है, लेकिन मन कभी नहीं भरता', और जाहिर है कि सौंदर्यबोधीय जरूरतों का संबंध पेट से अधिक मन से है। हालाँकि सौंदर्यबोधीय जरूरतें स्त्री और पुरुष दोनों को होती हैं, लेकिन चूँकि विवाह में भी खरीददार की हैसियत पति की होती है, इसलिए उसकी इच्छाओं-अपेक्षाओं की पूर्ति पर ही इस सौंदर्य की सफलता-असफलता निर्भर करती है। व्यक्ति का सौंदर्य किसी फैक्ट्री का उत्पाद नहीं है कि एक वस्तु को पाकर अन्य की जरूरत न रह जाए। व्यक्ति के प्रसंग में दूसरी बात यह भी है कि उसे अप्राप्य की कामना ही अधिक होती है, 'चित्त चंचल होता ही है' इसीलिए 'दूर के ढोल सुहावने लगते हैं' और तब जाहिर है कि एक न एक दिन 'घर की मुर्गी साग बराबर' बन ही जाती है, भले ही घर से बाहर वालों को वह मुर्गी ही नजर आती रहे। पूँजीवादी मीडिया को चाहे और किसी बात का श्रेय दिया जाए या न दिया जाए, इस बात का श्रेय तो देना ही पड़ेगा कि उसने पुरुषों के मन में दुनिया भर की सुंदर स्त्रियों से प्रेम करने (श्वदन श्वहु) की इच्छा पैदा कर दी है, और ठीक इसी तरह ऐसी ही आकांक्षा 'हैंडसम' पुरुषों के प्रति स्त्रियों के मन में भी पैदा की है। पूँजीवादी मीडिया ने मनुष्य की काम भावना को ऐसे 'प्रेजेंट' किया है कि उसके सामने वास्तविक काम अनुभव फीके पड़ जाते हैं, नतीजतन व्यक्ति को हमेशों

ही महसूस होता है कि केवल मेरी ही दही खट्टी है। पूँजीवादी समाज और पूँजीवादी मीडिया ने 'होने' से अधिक 'दिखने' को, वस्तु से अधिक उसकी पैकेजिंग को महत्वपूर्ण बना डाला है। व्यक्तित्व का आकर्षण महज रूप के आकर्षण में बदल गया है और व्यक्तित्व का आनन्द ले सकने की इच्छा, व्यक्ति से यौनानंद उठा लेने की इच्छा में बदल गई है, यह मनुष्य की मृग मरीचिका है। व्यक्ति देह में भी नहीं, अंगों मात्र में सिमट गए हैं, "हम अब भी अंगों से प्रेम करते हैं, मनुष्यों से नहीं। ...बजाय यह जानने के कि प्रेम करते हुए ही मनुष्य सबसे अधिक विशिष्ट और सबसे अधिक थिर होते हैं, हम सबसे ज्यादा असम्प्रेषणशील, सबसे ज्यादा अकेले प्रेम करते हुए ही होते हैं।"

लेकिन असम्प्रेषणीयता और अकेलापन केवल शारीरिक संबंधों तक ही सीमित नहीं होता, शारीरिक संबंधों में पैठने वाला अकेलापन असल में दाम्पत्य जीवन में ही पसर गए अकेलेपन की सबसे चरम अभिव्यक्ति होता है। पेशा आधारित विशेषज्ञता ने रुचि के क्षेत्रों को सीमित कर दिया है और लिंग आधारित श्रम विभाजन ने मिल-जुलकर काम करने से रोक दिया है; बातचीत के दायरे कुल मिलाकर किन्हीं व्यक्तियों की निंदा या फिल्मों की चर्चा या ऐसे ही किसी जुगाली करने जैसे विषय तक सीमित हो गए हैं। कोई सर्जनात्मक विषय, कोई साझा उद्देश्य नहीं रह गया है, सिवाय साथ रहते हुए अकेले जिए जाने के। घर और बाहर के विभाजन ने जहाँ एक ओर व्यक्तिगत 'स्पेस' दिया है, वहीं इस विभाजन से ताल-मेल बिठा पाना मुश्किल हो रहा है। बाहरी दुनिया में अपमानित महसूस करने वाले लोग घर में सम्मान पाने की अपेक्षा करते हैं और बाहर सम्मान पाने वाले लोग उस सम्मान को घर में भी पाना चाहते हैं। अधिकारियों को तो मातहत चाहिए ही चाहिए, मातहतों को भी घर में मातहत की जरूरत पड़ रही है। शक्ति की आकांक्षा ने आत्मीय संबंधों को भी नहीं छोड़ा है, लेकिन पतियों के प्रसंग में दोहरी समस्या यह है कि "पुरुष स्त्रियों से सिर्फ आज्ञापालन की इच्छा नहीं रखते, वे उनसे भावनाएँ भी चाहते हैं। कुछ बहुत कठोर अपवादों को छोड़कर पुरुष अपनी स्त्रियों को एक बाध्य गुलाम की तरह नहीं बल्कि एक इच्छुक गुलाम

की तरह रखना चाहते हैं; सिर्फ गुलाम नहीं बल्कि पसंदीदा गुलाम।”

पत्नियों पर श्रेष्ठता चूँकि सभी पतियों को अपना एकाधिकार महसूस होती है, इसलिए पतियों में विशिष्टता हासिल करने का तरीका यह लगता है कि श्रेष्ठ पत्नियों पर श्रेष्ठता हासिल की जाए, इसलिए ऐसी स्त्रियों को अपनी पत्नी बनाने या अपनी पत्नियों को ऐसी स्त्री- जिन्हें सभी पुरुष चाहते हों- बनाने की आकांक्षा पतियों (कर मध्यवर्गीय) में मौजूद है। लेकिन चूँकि पत्नियों भी 'पब्लिक स्फीयर' में भागीदारी कर रही हैं- चाहे अपनी नौकरी के जरिए या फिर अपने पतियों के- इसलिए उनमें स्वयं भी कीमती व्यक्तित्व के रूप में पहचाने जाने की इच्छा का होना स्वाभाविक है; बाहरी दुनिया में बहुत सारी पत्नियाँ अगर अपने पतियों पर अपना नियंत्रण दिखाने की कोशिश नहीं करती, तो भी कम से कम उनके नियंत्रण से मुक्त तो दिखना ही चाहती हैं, खासकर अगर वे विवाह से पहले भी प्रभावशाली रही हों। एक-दूसरे पर हावी होने की यह इच्छा कितने आत्मीय संबंधों का सृजन करती है और कितनी भावनात्मक सुरक्षा उपलब्ध कराती है, कहना मुश्किल है।

लेकिन आधुनिक मनुष्य की सबसे बड़ी त्रासदी उसका अपना निरर्थकताबोध है। हालाँकि बहुत सारे लोग इस बोध से पलायन करने के लिए तरह-तरह के उपाय निकाल लेते हैं, बहुत सारे लोग सफलता को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लेते हैं, लेकिन कुछ अभाग्य लोग ऐसे भी होते हैं जो न तो इससे पलायन कर पाते हैं और न ही इसका हल निकाल पाते हैं। एक तरफ अपने-आपको सुरक्षित करने की आत्मकेंद्रित कोशिशें और उससे उपजने वाला हीनताबोध और दूसरी तरफ सार्थक जीवन जी सकने की कामना, इस खाई को पाटने की कोशिशें कई बार लोग दूसरे की मदद से करते हैं। लेकिन तथ्य यह है कि इस खाई को दूसरा कोई नहीं पाट सकता, अंतर्मन में पलने वाले छोटेपन से मुक्त कर दूसरा कोई बड़ा नहीं बना सकता और जब भी दूसरों के जरिए ऐसा करने की कोशिश की जाती है, दूसरा 'अपना' बनने की बजाय अपना 'अन्य' बन जाता है।

विवाह भौतिक, शारीरिक और मानसिक जरूरतों

की पूर्ति के स्रोत के रूप में असल में एक को किसी अन्य एक ही व्यक्ति के माध्यम से जीवन की समग्र जरूरतों की पूर्ति करने का भरोसा दिलाता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जरूरतों का उत्पाद और उसी के अनुकूल होने के कारण विवाह सर्वव्यापी, प्रभावशाली और अत्यंत आकर्षक प्रतीत होता है। व्यक्तियों को भौतिक रूप से असहाय और भावनात्मक रूप से असुरक्षित करने के बाद यह एक मिथक के जरिए उनकी पूर्ति का आश्वासन दिलाता है और तब छोटी-छोटी जरूरतें भी शाश्वत इच्छाओं का रूप ले लेती हैं, लेकिन विवाह के बाद भौतिक इच्छाओं की पूर्ति शाश्वत आनंद का अनुभव न तो करा पाती है और न ही करा सकती है। विवाह एक विधिक अनुबंध है और कोई भी विधिक अनुबंध ज्यादा से ज्यादा भौतिक जरूरतों की पूर्ति को ही सुनिश्चित करवा सकता है। भावनात्मक अनुभूति व्यक्तियों की गतिविधियों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, उसे किसी अनुबंध द्वारा उत्पन्न नहीं कराया जा सकता, वह आपसी सामंजस्य द्वारा ही अर्जित की जा सकती है और आपसी सामंजस्य कैसा होगा, यह व्यक्तियों के व्यक्तित्वों से ही निर्धारित होता है। विवाह किसी व्यक्ति को भौतिक रूप से साथ रहने को विवश कर सकता है, लेकिन असल में तो “अकेलापन अपने क्रूरतम रूप में तब दिखता है जब आप किसी ऐसे व्यक्ति के निकट संपर्क में रह रहे हों, जिसने संवाद करना छोड़ दिया हो। अपने पति के अखबार को ताकती या बिस्तर में उसकी सांसों की आवाज को सुनने वाली गृहणी का अकेलापन किराए के मकानों में रहने वाली बूढ़कुंवारी के अकेलेपन से कहीं भयावह है। अकेले लोगों का अकेलापन किसी के साथ दाम्पत्य स्थापित करने की असफलता से नहीं, अविश्वास और अहमन्यता से जन्मा होता है। विवाह के सौदे में भावनात्मक सुरक्षा प्रदान करने की बात सोची जा रही हो तो यह असंभव है, क्योंकि ऐसी सुरक्षा व्यक्ति की अपनी उपलब्धि होती है।”

विवाह का सबसे बड़ा अभिशाप तो यह है कि यह मनुष्य की प्रेमपूर्ण सहज अभिव्यक्तियों और निष्ठा को 'इयूटी' में बदल देता है और तब जो चीजें मनुष्य की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति हो सकती थीं वे एक बाध्यता बन जाती हैं; नतीजतन, देने और पाने का सहज आनंद

छिन जाता है। वह अधिकार और कर्तव्य की लड़ाई में बदल जाता है।

लेकिन विवाह अब भी मौजूद है और बहुत सारे मामलों में बहुत सफलतापूर्वक निभ रहा है, उसकी वजह यह है कि बहुत बार वंचित मनुष्य थोड़े में ही संतोष करना सीख जाते हैं, लेकिन उससे भी बड़ी वजह यह है कि विवाह का कोई समग्र विकल्प मौजूद नहीं है। निजी संपत्ति पर आधारित व्यवस्था की परिणति यह है कि आधी मानवता के हर सदस्य को शेष आधी मानवता से एक ही सदस्य चुनना है और उसी से वह सारे काम निकालने की कोशिश करनी है, जो अलग-अलग व्यक्ति ज्यादा बेहतर ढंग से कर सकते हैं। यह तो तय है कि व्यक्तियों की स्वतंत्रता ने दमनकारी अनुबंधों को नकारना शुरू कर दिया है, स्वयं तलाक का कानून की शकू लेना इस बढ़ते दबाव का ही परिणाम है। तलाक के मामले दिनों-दिन बढ़ते जा रहे हैं और ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि पारंपरिक समाजों के ठीक उलट अब तलाक के लिए अधिकांशतः आवेदन स्त्रियों की ओर से दिए जा रहे हैं। लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि लोग व्यक्तियों से असंतुष्ट हैं, संस्थाओं से नहीं; विवाह का मिथक बरकरार है, ब्रिटेन में तलाक लेने वालों में से दो-तिहाई पुनर्विवाह कर लेते हैं, कमाबेश यही स्थिति दुनिया भर में है, 'सीरियल मोनोगेमी' (क्रमिक एकविवाह) समाजशास्त्र में एक पारिभाषिक पद के रूप में स्वीकृत हो चुका है।

सन्दर्भ सूची

'भारतीय ग्राम'- श्यामाचरण दुबे, (हिन्दी अनुवाद-योगेश अटल), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९६, पृष्ठ -१५२

'अंधेरे बंद कमरे'- मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवी आवृत्ति- २००३, पृष्ठ-२३६
देखें, फिलिप लांगमैन का विचारोत्तेजक लेख, 'द रिटर्न ऑफ पैट्रियार्की' फॉरेन पॉलिसी, मार्च-अप्रैल, २००६

'न आने वाला कल'- मोहन राकेश, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, संस्करण, १९९४, पृष्ठ-१४

'मैन एंड मीनिंग'- जेम्स एफ. रॉयस, मैकग्रॉ-हिल बुक कंपनी, १९६९, पृष्ठ -२१४

'विद्रोही स्त्री'- जर्मन ग्रीयर, (हिन्दी अनुवाद- मधु बी. जोशी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००१, पृष्ठ -५७

सोशियोलॉजी: थीम्स एंड पर्सपेक्टिव'- हरलम्बॉस, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बीसवीं आवृत्ति पृष्ठ -३८६-८७

'विद्रोही स्त्री'- जर्मन ग्रीयर, पूर्वीक्त, पृष्ठ -४६
'स्त्री और पराधीनता: प्रकृति, शक्ति और भूमिका से जुड़े प्रश्न'- जॉन स्टुअर्ट मिल, (हिन्दी अनुवाद- युगांक धीर), संवाद प्रकाशन, मेरठ, २००२, पृष्ठ -२५

'विद्रोही स्त्री'- जर्मन ग्रीयर, पूर्वीक्त, पृष्ठ -२२२-२२३

'द पेग्विन डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी', फोर्थ एडिशन, पेग्विन बुक्स इंडिया लिमिटेड, २०००, पृष्ठ - १०२-०३

वर्तमान समय में "कामायनी" की प्रासंगिकता

डॉ ताबिन्दा रिजवी

प्राचार्या, सितारा बन्नो मैमोरियल पी०जी० कॉलेज
सिरसी,(सम्भल) उ०प्र०

कामायनी छायावादी युग की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जा सकती है, यह महाकाव्य चिन्तन - मनन एवं जीवन जीने का सम्पूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जब प्रसाद जी ने यह महाकाव्य लिखा होगा तो अवश्य ही उनके मन में अवश्य ही ये दृष्टिकोण रहा होगा, कि वह कुछ ऐसा प्रस्तुत करें, जो संघर्ष, स्वार्थ और संकीर्णता के युग में भूले - भटके मानव को आलोक पथ दिखा सके, कामायनी में प्रसाद जी ने सांस्कृतिक एवं मानवतावादी विचारधाराओं को समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है, कामायनी में प्रसाद जी एक ओर प्रेम एवं सौन्दर्य को प्रस्तुत किया है, तो दूसरी ओर इन्होंने सम्पूर्ण जीवन - दर्शन को प्रस्तुत किया है, इसमें रहस्य - भावना, मानवतावादी, दृष्टिकोण, नारी के प्रति कोमल दृष्टिकोण - सभी कुछ एक साथ मिलता है, कामायनी के १५ सर्गों का नामकरण मन के भावों तथा दर्शन के आधार पर किया गया है, चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य तथा आनन्द सर्ग सभी जीवन की किसी न किसी दशा से सम्बन्धित हैं।

कामायनी का आरम्भ प्रसाद जी चिन्ता सर्ग से करते हैं, देवलोक के भोगवाद के कारण ईश्वरीय कोप के फलस्वरूप जलप्लावन होता है, सभी देवताओं के विनष्ट हो जाने पर भी प्रलय - जल के थपेड़ों में डूबती उतरती मनु की नौका हिमगिरि के सबसे ऊंचे भाग में पहुंचकर स्थित हो जाती है, चोटी पर बैठे - बैठे मनुभूत, भविष्य

और वर्तमान की चिन्ता में लीन हो जाते हैं, मनु के विचारानुसार देवजाति अपने असंयमित, भोग - विलास तथा अंहकार के कारण विनष्ट हो गई, यह इस समय के लिए भी एक सन्देश है, कि असंयमित जीवन, भोग विलास तथा अंहकार के द्वारा मनुष्य स्वयं का ही विनाश करता है। मन में अभाव का जन्म होता है, तो चिन्ता का उदय होता है।

चिन्ता करता हूँ, मैं जितनी, उस अतीत की उस सुख की।
उतनी ही अनंत में बनती जात, रेखायें दुख की।।
(चिन्ता सर्ग)

निरंतर चिन्ता में रहते हुए मनु को कर्मशील होने की प्रेरणा मिलती है, इसी प्रेरणा से मन में आशा का संचार होता है, चिन्ता सर्ग में प्रसाद जी अन्त में 'प्रलय निशा' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो आशा सर्ग के आरम्भ में सुनहरे तीर बरसाती हुई उषा से होता है, ज्यों - ज्यों मनु विचार करते हैं, उनके मन में जीवन के प्रति उमंग का संचार होने लगता है, चिन्ता स्वतः समाप्त होने लगती है, किसी भी विषय पर चिन्तन - मनन यदि उचित दिशा में किया जाए तो सफलता के द्वार धीरे - धीरे खुलने लगते हैं।

तो फिर क्या मैं जिऊँ ,
और भी, जीकर क्या करना होगा ?

देव बता दो, अमर - वेदना।
लेकर कब मरना होगा ?

(आशा सर्ग)

जीवन में आस्था उत्पन्न होने के पश्चात् मनु के मन में श्रद्धा का भाव उदय होता है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार "श्रद्धा भाव और व्यक्ति दोनों का प्रतिनिधित्व करने वाला सर्ग है। श्रद्धा नारी के रूप में मनु का अभाव दूर करती है, और भाव के रूप में मनु को जगत के प्रति आस्थावान बनाती है।" भविष्य के प्रति भय - कातर मनु को देखते हुए श्रद्धा मनु को कर्मशील बनने की प्रेरणा देती है, जीवन का रहस्य बताते हुए वह कहती है, कि तपस्या ही जीवन का सत्य नहीं है, जीवन का सत्य जीवन को जीने में है।

श्रद्धा से मिलन के पश्चात् मनु के जीवन में बहार आ जाती है, वह अत्यन्त प्रसन्न रहने लगते हैं, उनके भीतर काम - भावना जाग्रत होती है, एक और वह प्रसन्न है, तो दूसरी और मन में भोग एवं निवृत्ति का संघर्ष है, वह समझ नहीं पा रहे हैं, कि किसे प्राथमिकता दें। तभी मनु के मन से काम की ध्वनि सुनाई देती है, वह कहती है, कि मैं देवताओं के हृदय में उद्दीप्त अवस्था में विद्यमान रहता था, परन्तु मेरे अत्याधिक उपभोग के कारण देवजाति विनष्ट हुई। इसके साथ ही काम यह भी कहता है, कि काम एवं रति के द्वारा ही सृष्टि का विकास हुआ है, यह आज के लिए भी प्रसाद जी का महत्वपूर्ण संदेश है, कि यदि किसी कार्य की भी अधिकता हो तो वह विनाश के कगार पर ले जा सकता है, एवं सन्तुलित प्रयोग सृष्टि के विकास में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

लज्जा सर्ग के कामायनी के सर्वश्रेष्ठ सर्गों में से एक है, लज्जा का उदय होना नारी धर्म है, जब श्रद्धा मनु के प्रति प्रेम के लिए उन्मुख होती है, तभी लज्जा का उदय होता है, लज्जा श्रद्धा को समझाते हुए कहती है।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ।
गौरव महिमा हूँ सिखलाती

ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती।

लज्जा सर्ग में प्रसाद जी ने नारी की श्रेष्ठता को सिद्ध किया है, जो पुरुष के जीवन को सफल बनाती है।

कर्म सर्ग में कवि ने भोगमयी वृत्ति का मनोवैज्ञानिक रूप से वर्णन किया है, ईर्ष्या सर्ग में मनु के मन में उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या की भावना का वर्णन किया है, कि पुरुष नारी के प्रति एकाधिकार चाहता है, यदि नारी अन्य किसी की और आकर्षित होती है, चाहे वह उसकी अपनी ही सन्तान क्यों न हो, तो पुरुष के मन में ईर्ष्या के भाव जागते हैं, पुरुष स्वयं चाहे कुछ करें, परन्तु नारी को पूर्णतः स्वतन्त्रता देना वह कभी नहीं चाहता। श्रद्धा गर्भवती होने के कारण पीतवर्णी हो गई है, एवं अपने होने वाले बच्चे की चिन्ता करती है, तो यह बात भी मनु को अच्छी नहीं लगती, श्रद्धा चाहती है, कि मनु व्यर्थ में हिंसक वृत्ति न करें।

अपनी रक्षा करने में जो
चल जाए तुम्हारा कहीं अस्त्र
वह तो कुछ समझ सकी हूँ, मैं,
हिसंक से रक्षा करे शस्त्र।

मनु श्रद्धा से दूरी बनाकर रखने लगते हैं, वह पूरा दिन घर से बाहर रहने लगते हैं। श्रद्धा कहती है -

उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है, गुफा द्वार।
तुमको क्या ऐसी कमी रही
जिसके हित जाते अन्य द्वार ?

श्रद्धा के अन्य कामों में व्यस्त रहने से मनु ईर्ष्या भाव से भर जाते हैं, एवं एक दिन श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं।

श्रद्धा को छोड़ने के बाद मनु उपत्यका में विचरण करने लगे। उन्हें अपने कार्यों पर स्वयं दुखानूभूति होने लगी।

निराशा के साथ वह अनजाने में ही सारस्वत प्रदेश की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं, सहसा उन्हें अलौकिक सौन्दर्य वाली इड़ा दिखाई देती है, मनु उसके अलौकिक सौन्दर्य को देखते रह जाते हैं, इड़ा को सारस्वत प्रदेश पुनः बसाने के लिए एक समर्थ पुरुष की तलाश थी, इस कारण वह मनु से सहायता हेतु याचना करती है। मनु उसकी सहायता करने को तैयार हो जाते हैं। मनु सारस्वत प्रदेश को पुनः स्थापित करते हैं, परन्तु धीरे - धीरे उनके प्रति विद्रोह पनपने लगता है, इस विद्रोह के कारण मनु जनसंहार कर देते हैं, एवं मूच्छित हो जाते हैं, ऐसे समय में श्रद्धा उन्हें शान्ति प्राप्ति का मार्ग दिखाती है।

यद्यपि कामायनी का रचनाकाल सन् १९३६ ई० माना जाता है, परन्तु यह ग्रन्थ आज भी उतना ही प्रासंगिक है। महाकाव्य अपने युग की प्रतिनिधि रचना होता है, प्रत्येक महाकाव्य में युग की सामाजिक तथा अन्य विचारधाराओं को प्रस्तुत किया जाता है, इसमें कवि ने विभिन्न गम्भीर समस्याओं एवं प्रश्नों को प्रस्तुत किया है, जब भी हम अतिशय भौतिकता की और भागते हैं, उसका परिणाम खराब होता है। देवताओं का विनाश दिखाकर प्रसाद जी ने अतिशय भौतिकतावाद का दुष्परिणाम दिखाया है। अत्यधिक बुद्धिवाद का परिणाम भी ठीक नहीं होता। जब इड़ा मनु के सम्पर्क में आती है, तो मनु अत्यधिक बुद्धिवाद में उलझ जाते हैं।

प्रसाद जी ने कामायनी में यह दर्शाने की चेष्टा की है, कि अतिवादिता प्रत्येक वस्तु की गलत होती है, इस कारण सभी का सन्तुलित प्रयोग आवश्यक है, रहस्य सर्ग में प्रसाद जी ने दिखाया है, कि श्रद्धा मनु को लेकर उस उच्च प्रदेश पर चली गई, जहां नीले अन्धकार का आवरण पड़ा हुआ था, श्रद्धा आगे चल रही थी, मनु उसका अनुकरण कर रहे थे, वह बहुत थक गए, परन्तु इतनी ऊंचाई पर पहुंच गए कि प्रत्यावर्तन सम्भव नहीं है, चलते - चलते वह एक ऐसे स्थान पर पहुंचे, जहां पर दिशाओं और काल का कोई ज्ञान नहीं था। केवल एक आलोक दिखाई दे रहा था। मनु को तीन दिशाओं में तीन गोलाकार प्रकाश केन्द्र दिखाई देने लगे। यह

तीनों अलग - अलग थे। मनु इनका रहस्य श्रद्धा से पूछते हैं। श्रद्धा कहती है, कि तीन बिन्दुओं के रूप में तीन लोक दिखाई दे रहे हैं।

इन तीनों से घिरा हुआ एक त्रिकोण बन रहा है, और इसके मध्य में तुम्हारी स्थिति है, ये तीनों लोक इच्छा, ज्ञान और क्रिया वाले हैं, परन्तु इनमें तारतम्य नहीं है, जब इनमें तारतम्य हो जाता है, तब ही आनन्द की प्राप्ति होती है, एवं दोनों लोक सफल हो जाते हैं।

इस प्रकार कामायनी एक ऐसा महाकाव्य है, जो अपने रचनाकाल से लेकर अब तक प्रासंगिक है, इसमें प्रसाद जी ने जीवन दर्शन प्रस्तुत किया है। इसमें इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया तीन ऐसे तत्व बताए गए हैं, जिनके सन्तुलित प्रयोग से कोई भी अपने जीवन को सफल बना सकता है। किसी एक तत्व की अधिकता से सन्तुलन बिगड़ सकता है। इस कारण सभी का तारतम्य जीवन में आवश्यक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. कामायनी
-भारतभूषण 'सरोज'
डॉ० कृष्णदेव शर्मा

२. जयशंकर प्रसाद
-आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

३. कामायनी - प्ररेणा और स्रोत-
डॉ० रमाशंकर तिवारी

४. कामायनी का पुनर्मूल्यांकन -
रामस्वरूप चतुर्वेदी

‘भुरकुड़ा केंद्र में संत बूला और उनका लोक’

रंजना सिंह

शोध छात्रा
हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी
मोबाइल न. ९६७०९७८७७४

गाज़ीपुर परगाना के निकट स्थित भुरकुड़ा निर्गुनियों संतों का एक बड़ा केंद्र रहा है। यहाँ संतों की परंपरा अत्यंत समृद्ध रही है, लगातार यहाँ ७ संत हुए हैं। भुरकुड़ा केंद्र की ३६५ पीठें भी बताई जाती हैं। इन संतों ने कभी घूम-घूम कर तो कभी एक स्थान पर रहकर ही अपनी वाणी का प्रचार प्रसार किया।

इनके सभी कृत्य समाज को बेहतरी की ओर ले जाने हेतु किये गए। बूला साहब की लोक दृष्टि पर नज़र डालते हुए उस पूरी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक वतावरण को ध्यान में रखना होगा।

‘विक्रम की १६वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मुगल राज्य की स्थापना होने के पहले तक कई भिन्न-भिन्न मुस्लिम वंशों ने शासन किया। किंतु शांति एवं समृद्धि में वृद्धि की अपेक्षा बराबर कमी ही होती गई। भारतीय जनमानस जाति-पाँति, छुआछूत तथा परस्परिक कलह आदि के कारण विश्रंखल बनकर आडंबर एवं मिथ्याचार का भी क्रमशः शिकार बनता गया।’

१६वीं १७वीं शताब्दी में जब भुरकुड़ा केंद्र के संतों का प्रादुर्भाव हुआ। समाज में विभिन्न प्रकार की

विसंगतियों का कुहासा सा छाया हुआ था जिसने सामाजिक एवं सांस्कृतिक वतावरण को भी आच्छादित एवं दूषित कर रखा था। ऐसे समय में संत भक्त और उनकी वाणी की जरूरत बढ़ती जा रही थी तथा उनके करणीय स्पष्ट होते जा रहे थे।

भुरकुड़ा संतों के संबंध में जो जानकारियाँ हमें ज्ञात हैं वो अत्यंत रुचिकर हैं। इस केंद्र के पहले संत बूला साहब (जन्म संवत् १६८९ - मृत्यु १७६६) हैं, जिनका वास्तविक नाम बुलाकी राम था ये जाति से कुनबी थे। भुरकुड़ा गाँव के निवासी थे।

बुलाकी राम जमींदार गुलाल सिंह के यहाँ नौकर थे और हलवाही का काम करते थे। गुलाल सिंह के पिता जमींदारी का कर न चुका पाने के कारण दिल्ली में कैद थे; यह समय मुगल शासक औरंगजेब का था। इसी काम के सिलसिले में गुलाल सिंह और बुलाकी राम को दिल्ली जाना पड़ा। रास्ते में उनकी भेंट यारी साहब से होती है। बुलाकी राम यारी साहब से इतने प्रभावित होते हैं कि बुलाकीरामयारीसाहबसे इतने प्रभावित होते हैं कि वहाँ से वापस न आकर यारी साहब के पास ही रुक

जाते हैं और उनसे दीक्षा ग्रहण कर उनके शिष्य बन जाते हैं, बुलाकी राम पर आध्यात्म का रंग चढ़ जाता है, वे बुलाकी राम से संत बूला साहब हो जाते हैं। उनके मन के सभी भेद समाप्त हो जाते हैं सारी दुविधा का अंत हो जाता है जीवन उज्ज्वल हो जाता है।

मूल मंत्र सूरति अबिनासी, निरखि देखु हिये माहिं।
जन बुल्ला बलि बलि सतगुरु की, सदा रहे तेहि पाहिं।

संतों के व्यक्तित्व के संबंध में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी संत काव्य नामक अपनी पुस्तक में कहते हैं - 'उनमें किसी प्रकार के संकुचित वा संकीर्ण विचारों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। वे सभी धर्मी संप्रदायों जातियों वा वर्गों को समान दृष्टि से देखने लग जाते हैं। यदि उन्हें गुरु की आवश्यकता भी पड़ती है तो केवल इसलिए कि वह उनके प्रारंभिक साधारण जीवन की दशा में उनके सामने कोई न कोई एक संकेत वा सुझाव सा प्रस्तुत कर देता है जिसकी झलक उसके प्रवाह की दिशा को सहसा बदल देती है।'

संत बूला कुछ दिनों बाद वापस भुरकुड़ा लौट आये।

'भुरकुड़ा लौटने पर बुल्ला साहिब ने पास के घने जंगल में अपने लिए एक कुटिया बना ली और वहीं साधना करने लगे। यह स्थान बाद में 'रामबन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।'

गुलाल सिंह को जब पता चला की बुलाकी राम लौट आये हैं और पास में ही कुटी बना कर रहते हैं तो उन्होंने वापस बुलाकी राम को काम पर रख लिया।

बुलाकी राम का सारा समय अब प्रभु ध्यान में ही व्यतीत होता था काम करते करते भी अक्सर ध्यान मग्न हो जाया करते थे। उन्होंने स्वयं लिखा भी है -

आठ पहर चौंसठ घरी, जन बूला धर ध्यान।
नहि जानो कौनी घरी, आइ मिलै भगवान।।

एक दिन हलवाही करते वक्त बुलाकी राम ध्यान मग्न हो गए उसी वक्त गुलाल सिंह खेतों में आ पहुंचे और बुलाकी राम की दशा देखकर क्रोधित हो उठे और बुलाकी राम को एक लात मार दिया उसी वक्त बूला साहब के हाथों से दही छलक कर गिर गई और बूला साहब ने बताया मैं तो ध्यान मग्न हो संतों को भोजन करा रहा था मेरे पास इतना धन कहां कि सचमुच में संतों को पंगत खिलाऊं। अभी दही परसने ही वाला था कि आपने आकर ध्यान भंग कर दिया और मुझे मेरी वास्तविकता का भान करा दिया। इतना सुनते ही जमींदार गुलाल सिंह का धन, वैभव आदि का सारा अहम भाव चूर-चूर होकर धूल में मिल गया। वे बूला साहब के चरणों में गिर पड़े और उनके शिष्य बन गए।

संत गुलाल साहब कहते भी हैं कि प्रेम पाने के लिए अपना सर्वस्व त्याग करना पड़ता है सभी तृष्णा, कामना को छोड़ कर अपना सीस उतार कर यानी अपने अस्तित्व को भुलाकर ही उस परमात्मा से एकाकार हुआ जा सकता है।

जो पै कोई प्रेम गाहक होई।
त्याग करै जो मन कि कामना, सीस दान दै सोई।।

इस संदर्भ में कबीर ने भी कहा है -
कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैठे घर माँहि?

संत बूला के हाथ से दही छलकना ये कुछ रहस्यमयी चमत्कारी सा लगता है। परंतु हमें ध्यान रखना होगा कि संतों की कथनी और करनी में अभेद होता था। जो उनके अंतःकरण की प्रबल इच्छा रही हो कौन जाने वही प्रत्यक्ष प्रदर्शित हुई हो। संत बूला का इस तरह ध्यान में डूब जाना उनकी गहरी चिंता लोक के प्रति गहरी संवेदना ही है। तत्कालीन समाज धर्म आधारित शक्तियों से संचालित था। और धर्म आडंबरों और बाह्याचारों का खोल मात्र रह गया था। अतः इन संत भक्तों को लोक कल्याण हेतु जो कुछ भी करना था, इसी धर्म के रास्ते

ही करना था। विभिन्न विसंगतियों से आच्छादित समाज से कुरीतियों, बाह्याचारों, धर्माडंबरों का धुंधलका हटाने के लिए उससे टकराना आवश्यक था। इन सब के लिए उन्होंने ईश्वरीय प्रेम का सहारा लिया। मध्यकाल में पुरोहितवाद का बोलबाला था। उन्होंने सबसे बड़ा कार्य लोक के लिए यह किया कि पुरोहितवाद को उखाड़ फेंका। भक्त और भगवान के बीच किसी तीसरे की भूमिका को समाप्त कर दिया तथा अपनी बानियों को लोक भाषा बोली में रचकर सर्वग्राही बना दिया।

बिनु माला बिनु तिलक ही बिना जाप को ध्यान।
अष्टयाम धुनि लगइ रहतु है, अनहद बाजु
निसान।।

बूला साहब के दोहे से स्पष्ट है कि वो ईश्वर और भक्त के बीच किसी भी प्रकार के बिचौलिए को अस्वीकार कर रहे हैं सभी प्रकार के आडंबरों का भी नकार कर रहे हैं।

संत बूला समाज सुधारक और विचारक तो थे ही, परंतु मूलतः ये भक्त थे। उन्होंने जो कुछ भी ग्रहण किया वो अपने लोक और समाज से किया तथा जो कुछ उन्होंने अनुभव किया उसे अपनी बानियों के माध्यम से व्यक्त किया है। इनकी बानियों का संग्रह 'शब्दसार' नाम से 'वेलवेडियर प्रेस प्रयाग' द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

संत बूला निर्गुण परंपरा के कवि हैं। इन पर अपने पूर्ववर्ती निर्गुण कवियों, कबीर आदि का भी प्रभाव है। हिंदी काव्य परंपरा में बूला सिद्धों और नाथों की परंपरा से जुड़े हैं। सरहपा का दोहा है -

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि-ससि णाहिं पवेस।
तहि बढ चित्त विसाम करु, सरहँ कहिअ उएस?

इसी का भावानुवाद हमें बूला की पंक्तियों में मिलता है-

समुझ मन मानि ले, जोगिया कहल सँदेस।
रैनि दिवस रवि ससि वहँ नाहीं, तहवाँ कर उपदेस।

संत बूला की बानियों में वेदांत और सूफ़ी के तत्व भी शामिल हैं। परंतु ये सिद्धांत के रूप में नहीं बल्कि लोक प्रचलित धारणाओं के रूप में मिलते हैं। निम्न उदाहरणों में इसे देखा जा सकता है। -

बीज एक अंकुर है एकै , फल फूल रहत समाना।
उपजत बिनसत केते होत है अंत कहुँ नहि आना।

यक साई जग न्यारा है, मेरा साई जग न्यारा है।
सो मुझमें है वाहि मांह हौ, ज्यों जल मध्य तारा
है।

सूफ़ी विचारधारा की स्पष्ट अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। जहां ईश्वर से उनका संबंध माशूक और आशिक के रूप में है। सूफ़ी परंपरा के प्रतीकों और शब्दावलियों का सीधा प्रयोग उनकी बानियों में हुआ है।

मेरा मन लागा, मेरा मन लागा।
सैया की सूरति पर जागा, तन भ्रम भागा।
जैसे चकोर चंद सो लागा, चुअत अंगार ज्योति
अनुरागा।

जन बूला महबूब असिका , हरि दरसन में पागा।

संत बूला की बानियों में निर्गुण ईश्वर की अवधारणा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। ईश्वर रूप, रंग, आकार आदि से अजाना है। उस परम शक्ति का शरीर नहीं है, ना ही उसके पास माया का प्रसार है। वो अगम है, अपार है, उसका विनाश नहीं हो सकता। यही परम शक्ति बूला के अनुसार संतो को प्यारा है।

वाके रूप रेख नहिं काया, नहिं माया विस्तारा है।
अगम अपार अमर अबिनाशी, सो संतन को प्यारा
है।।

उनका ईश्वर निर्गुण होकर भी सभी कलाओं से युक्त है और शोभा की खान है।

वह ना टूटै, वह ना फूलै, नहिं कवहीं कुम्हलाय।
सर्व कला गुन आगरो ,सोभा बरनी न जाय।।

संत बूला के यहां आत्मा परमात्मा के संबंधों के विविध रूप हैं। कभी यहां दांपत्य का संबंध स्थापित होता है तो कभी प्रेमी-प्रेमिका का तो कभी सेवक और स्वामी का संबंध होता है। आत्मा नारी के रूप चित्रित की गई है और परमात्मा पुरुष के रूप में।

सैया जी के नाम की बलि जाऊं।
सुमिरत नाम बहुत सुख पायो घर घर चित लेह जाऊं।

जन बूला बोलहिं कर जोरे सतगुरु चरन समाऊं।।

संत बूला अपने ईश्वर को पाने का मार्ग भी बताते हैं।

बूला साहब के यहाँ नाम जप की महत्ता का वर्णन है। नाम जप के द्वारा ही ईश्वर से मेल हो सकता है।

अनंत कला जा के लहर उठतु है, परम तत्व निरंकारा है।

जन बूला ब्रह्मज्ञान बोलतु है सतगुरु शब्द अधारा है।।

परमात्मा से मिलन के पश्चात सब कुछ सुलझ जाता है। सारे दुःख का अंत हो जाता है मोह माया काम वासना रूपी सभी प्रकार के अंधकार का लोप हो जाता है चारो ओर उजाला फैल जाता है। प्रभु के मिलन से मुरली की मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है।

संत बूला कहते हैं
हरि हम देख्यो नैन बीच, तहाँ होत बसंत धमारि कीच।

मिटि गयो अंधकार, भयो भोर।
जनम जनम दुःख मिटल मोर।।

मिलन के पश्चात प्रभु के बिछड़ जाने का डर भी सताने लगता है और उसके ना होने पर सबकुछ कितना भयानक लगने लगता है। मिलन के पश्चात एक भी क्षण के लिए परमात्मा से दूरी आत्मा के लिए मौत के समान है।

देखो पिया काली घटा मो पै भारी।
सुन्नी सेज भयावन लागी, मरौं विरह की जागी।
प्रेम प्रीति यहि रीति चरन लगु,पल छिन नाही बिसारी।

चितवत पंथ अंत नहिं पायो, जन बूला बलिहारी।

संत बूला के लिए परमात्मा इस रूप में समस्त संसार में व्याप्त है कि उसका कहीं भी अंत नहीं दिखता है वो घट घट वासी है।

सभी प्रकार के आडंबर का विरोध करते हुए बूला साहब सहज ध्यान को महत्व देते हैं आत्मा को, मन को हाथ पर रखने की बात करते हैं यानी जो कुछ भीतर है वहीं बाहर भी दिखे। मन, कर्म और वचन में एकाकार हो। झूठी पडिताई पर व्यंग करते हैं।

क्या भयो ध्यान किये हाथ मन ना हुआ।
माला तिलक बनाय देत सबको दुआ।
आसा लागि डोरि कहत भला हुआ।
बूला कहै बिचारी झूठ से भरा हुआ।

जब वे कहते हैं कि एक ही ब्रह्म सभी प्राणियों में है तो सामंतवादी व्यवस्था की संवाहक विचारधारा अरराकर टूट पड़ती है। काम क्रोध रूपी भावना ही मनुष्य को भरमाये रखते हैं। उसी अज्ञानता के कारण वह बार बार संसार आता है।

एकै ब्रह्म सकल माँ अहई, काम क्रोध से भरमत रहई।

काम क्रोध है जम की फांसी मरि मरि जिव भरमै चौरासी।।

संत बूला के लिए राम का वास समस्त चराचर में है।

प्रभु से प्रेम करने वाला समस्त संसार का प्रेमी हो जाता है। इनके लिए मानव देह ही ईश्वर का पवित्र गेह है जहाँ राम का वास है। इस प्रकार संसार में एक आदर्श स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

इनके समस्त वैचारिकी के मूल में मानवता है। यही मानवता ही जीवन को बचाये रखती है। जीवन को सुंदर बनाती है।

दया बिनु छार सब माया, कवहिं नहिं राम नाम आया।

समझ न परत साधु को मारग जिन हरि नाम न गाया।

देह पवित्र से नेह करो, जहाँ राम बसत आतम-धारी।

मूल में गाँति परो दृढ से, जहाँ सुखमन सेज कि यह संवारी।

दसो द्वार पर जोति बरै, उतै निरंकार है ब्रह्म अपारी।

बुल्ला हिरदय बिचारि बोलै, गुर ज्ञान कि बात सुनो हमारी?

बूला साहब की भाषा अत्यंत साधारण है। किसी तरह का कोई बनावटीपन नहीं है बल्कि इनमें लोक भाषा का एक सहज रूप दिखाई देता है। भावों की गंभीरता के साथ इनके पदों में गेयता का अद्भुत संयोग है। मलार, अरिल्लु आदि रागो के साथ ही हिंडोला, झूलना, बसंत, होली, रेखता में अपने पदों को कहा है ये सभी लोक में प्रचलित राग हैं।

इसके साथ साखी, पद, चौपाई, रमैनी छंद भी इनमें मिलता है।

होली खेलो रंग भरी, सब सखियन संग लाई।
फागुन आयो मास अनँद भो, खेलु लेहु नर नारी।।

बूला निर्गुण धारा के महत्वपूर्ण कवियों में से एक है।

जिन्हें अपने समय की गहरी समझ है। अपनी सहज वाणी से समाज में फैली विसंगतियों को दूर करने का

एक मार्ग दिखाया।

प्रेम, दया और मनुष्यता आदि भाव को बचाये रखने का उपदेश दिया। जिससे जीवन को एक दिशा मिलती है। मनुष्य मन सत्यं शिवम सुंदरम की ओर उन्मुख होता है।

बूला साहब के अध्ययन और अध्यापन से हिंदी साहित्य और समृद्ध होगा।

मध्यकालीन संत काव्य परम्परा

रितु यादव

शोधछात्रा
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज

प्रारम्भ में संतकाव्य धारा का उदय भारतीय समाज में दार्शनिक, सांस्कृतिक में हुआ। परन्तु बाद में यह समाजसुधार की विराट परम्परा के साथ सामने आयी। इन्होंने अपनी साधना के तत्वों में समाज को नवोन्मुख करने का सिद्धान्त भी शामिल किया। संतों ने समाज में व्याप्त कुरीतियों, असमानताओं, आडम्बरो, लोकाचारों के विरुद्ध जाकर समाज को जाग्रत कर उन्हें नवीन चेतना की ओर उन्मुख किया। इनके विचार, रूढ़ियों की अपेक्षा नवीन हैं, तथा इनकी एक अलग परंपरा है जो आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इसमें योग्य संतों की वाणियों का संग्रह है। संक्षेप में इनकी परंपरा इस प्रकार है-

संत परंपरा के प्रथम कवि 'जयदेव' हैं, जिनकी लोकप्रिय रचना 'गीतगोविंद' है। इसके पश्चात् 'संत साधना' विक्रम की १४ वीं शताब्दी में आते हैं। वे 'नामदेव' के समकालीन माने जाते हैं, क्योंकि नामदेव ने इनका उल्लेख किया है। इनका केवल एक पद 'आदिग्रंथ' में मिलता है। 'सतगाथा' इनके ६ पदों का संग्रह है। 'संत लालदेव' का जन्म संवत् १३९२ में हुआ था। इनकी वाणी लला वाक्यानि, ललेश्वरी वाक्यानि आदि संग्रहों

में प्रकाशित हुई। 'संत वेणी' को नामदेव का समकालीन माना जाता है। सिखों के पांचवें गुरु अर्जुन देव ने अपने एक पद में इनका नाम लिया है, इसलिए सं० १६२० से १६६३ के बाद के नहीं कहे जा सकते हैं। 'आदिग्रंथ' में इनके ३ पद हैं। 'संत त्रिलोचन' का सं० १३२४ में माना जाता है। 'त्रिलोचन' एवं 'नामदेव' की पारस्परिक मैत्री का भी उल्लेख मिलता है। उनकी चार पद 'आदिग्रंथ' में संग्रहित हैं, और चारों पदों में मराठी प्रभाव लक्षित होता है। इसके पश्चात् प्रसिद्ध संत नामदेव आते हैं। "नामदेव के ही समय में प्रसिद्ध ज्ञानयोगी ज्ञानदेव हुए हैं जिन्होंने अपने को गोरख की शिष्य परंपरा में बताया है। ज्ञानदेव का समय तेरहवीं शताब्दी उत्तरार्ध माना जाता है, संत 'नामदेव' निर्गुणोपासक थे, किंतु सगुणोपासना को भी अपनाया है।" १ नामदेव को आदर्श भक्त मानकर 'संतकबीर' ने कई बार उनकी प्रशंसा भी की है। 'आदिग्रंथ' में इनके ६१ पद और मराठी संग्रह में १०२ हिंदी पद संग्रहित हैं।

रामानंद का जन्म संवत् १३५६ माना जाता है, उत्तर भारत में उनका विशेष प्रभाव रहा। इनकी रचनाएं संस्कृत में हैं, दो रचनाएं हिंदी में भी मिलती हैं।

इनमें से एक पद 'आदिग्रंथ' में संग्रहित है। "मध्ययुग की समग्र स्वाधीन चिन्ता के गुरु रामानंद ही थे। वे रामानंद को आकाशधर्मा गुरु कहते हैं।" २ 'संत सेनानाई' रामानंद के शिष्य परंपरा में आते हैं। इनका समय सं० १५०५ माना जाता है और इनकी रचनाएं मराठी में हैं, हिंदी रचित कुछ पदों में संदेह है। 'आदिग्रंथ' में भी इनका एक पद मिलता है।

कबीर पूर्वकालीन संतो में प्रमुख हैं। लेकिन इनके जन्म, मृत्यु, स्थान व जीवन की प्रमुख घटनाओं में मतभेद है। उन्होंने अपना ऐतिहासिक आत्मचरित्र प्रायः कुछ नहीं दिया, उनके समसामयिक भी उनकी ओर केवल संकेत करके रह गए हैं। फिर भी उनकी जन्मतिथि सं० १४५५ मानी जाती है। कबीर के गुरु रामानंद माने जाते हैं और गुरु भाई सेन, पीपा, रैदास, धना संत माने जाते हैं लेकिन इनमें प्रमाणों का अभाव है। कबीर की बानियों का संकलन बीजक, पंचवाणी तथा 'आदिग्रंथ' में हुआ है आदि ग्रंथ इनकी प्रामाणिक रचना मानी जाती है। जिसमें लगभग दो सौ पद और ढाई सौ साखियां संग्रहित हैं। इनके आधार पर ही 'कबीर ग्रंथावली' और 'संत कबीर' आदि ग्रंथों का रूपांतर हुआ है, जिनमें कबीर के पद साखी व रमैनी है। "कबीर मनुष्य बुद्धि को व्याहत करने वाली सभी वस्तुओं को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे। पंडित, शेख, मुनि, पीर, औलिया, कुरान, पुरान, रोजा, नमाज, एकादशी, मंदिर और मस्जिद उन दिनों मनुष्य चित्त को अभिभूत कर बैठे थे, परंतु वे कबीरदास का मार्ग न रोक सके। इसीलिए कबीर अपने युग के सबसे बड़े क्रांतदर्शी थे।" ३ 'संत' जी सेन नाई की भांति रामानंद के शिष्य माने जाते हैं। इनका जीवनकाल सं० १४१७ से १४४२ माना जाता है। ये कबीर के प्रशंसक और समसामयिक थे। इनकी रचनाएं भी हस्तलिखित रूप में प्राप्त हैं। 'आदिग्रंथ' में इनका एक ही पद मिलता है। 'रविदास' (रैदास) की जन्म तिथि भी अभी तक अज्ञात है, लेकिन फिर भी इनका समय विक्रम की १६वीं शताब्दी माना जाता है। "इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता, फुटकर पद ही बानी के नाम से 'संतबानी

सीरीज' में संग्रहित है। 'आदिग्रंथ' में इनके पदों की संख्या लगभग ४० है।" ४ बेलवेडियर प्रेस के संग्रह में कुछ नए पद अवश्य मिलते हैं, लेकिन दोनों में पाठ भेद बहुत अधिक है। भाषा पर कहीं-कहीं फारसी प्रभाव लक्षित होता है। 'कमाल' कबीर के पुत्र व शिष्य थे और कबीर ने इन्हें संतमत के प्रचार हेतु अहमदाबाद भेजा था। दादूदयाल की गुरु परंपरा में इनका नाम आता है। इनकी जन्म तथा मृत्यु तिथि अज्ञात हैं। प्रामाणिक संग्रह भी प्रकाशित नहीं है। धन्ना व भगत का जन्म संवत् १४७२ माना जाता है। 'आदिग्रंथ' में इनके चार पद हैं।

विश्वेश्वर संप्रदाय के प्रवर्तक संत जंभनाथ माने जाते हैं। इनका जन्म संवत् १५०८ विक्रम को हुआ था। इनकी कुछ फुटकर रचनाएं भी उपलब्ध हैं, जिनमें नाथ साहित्य की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। "जंभनाथ 'नाथपंथ' से विशेष प्रभावित थे, इनकी रचनाओं में ओंकार जप, निरंजन की उपासना, अजपा जप, गगनमंडल, पंचपुरुष, सतगुरु-महिमा, सोऽहं जप, जरा-मरण से मुक्ति, अनन्य भक्ति आदि का बारंबार उल्लेख हुआ है।" ५

गुरु नानक देव का जन्म संवत् १५२६ कार्तिक पूर्णिमा के दिन तलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ। यह नानक पंथ के प्रवर्तक हुए जिनके अनंतर उनकी शिष्य परंपरा को आगे चलकर नौ गुरुओं ने प्रचार किया और ये सभी आदि गुरु के बताए हुए मार्ग पर चलें और उनके प्रतिनिधि स्वरूप भी समझे जाते रहे। "इनकी रचनाएं 'आदिग्रंथ' में महला १ के अंतर्गत आती हैं। जिनमें मुख्य रूप से शब्द व साखियां हैं, इसके अतिरिक्त कुछ लंबी रचनाएं भी हैं। इनमें पंजाबी शब्दों का प्रयोग अधिक किया गया है।" ६ इसके पश्चात् आते हैं शेख फरीद जिनका जन्म संवत् १६०९ माना जाता है। इनकी रचनाएं लगभग १३० साखियां, ४ पद 'आदिग्रंथ' में संग्रहित हैं। गुरु अंगद का जन्म संवत् १५६१ माना जाता है। यह गुरुनानक के शिष्य थे और उन्होंने गुरु नानक की मृत्यु के पश्चात् उनकी रचनाएं एकत्रित कर लिपिबद्ध करने हेतु गुरुमुखी अक्षरों का आविष्कार किया। सिखों में लंगर की प्रथा भी इन्होंने ही चलाई। इनके द्वारा

रचित केवल कुछ श्लोक 'आदिग्रंथ' में हैं। इनके पश्चात् गुरु अमरदास जिनका जन्म संवत् १५३६ में हुआ, संत परंपरा में आते हैं, पहले ये वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी थे, लेकिन गुरुअंगद के शिष्य होने के पश्चात् वे उन्हीं के भक्त हो गए और नानक के पद गाते हुए अपने गुरु की सेवा करने लगे। अपनी मृत्यु के पूर्व गुरु अंगद ने इन्हें गद्दी पर बिठाया, तब इनकी अवस्था ७३ वर्ष थी। ये २२ वर्ष तक गद्दी पर बैठे। 'आदिग्रंथ' में इनकी रचनाएं महला ३ के अंतर्गत आती हैं। जैसे "गुरुनानक की प्रसिद्ध रचनाएं 'जपुजी' व 'आसादीवार' सिखों के यहां प्रातः काल और 'सोहिला' रात को सोते समय पढ़ी जाती हैं, वैसे ही इनकी रचना 'आनंद' उत्सव के अवसर पर गाई जाती हैं।" ७ इसके पश्चात् संत सिंगाजी का जन्म संवत् १५७६ को हुआ, वे निर्गुण बल की उपासना में सदैव लीन रहते थे। इन्होंने लगभग ८०० बानियों की रचना की। अंततः गुरु के नाराज हो जाने पर सं० १६१६ में ही उन्होंने जीवित समाधि ले ली। इनकी रचनाओं का अभी तक कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ और निमाड़ी द्वारा प्रभावित हिंदी भाषा होने के कारण बहुधा उद्गारों का भाव गांभीर्य है, जो जनसाधारण के लिए स्पष्ट नहीं हो पाता। 'भीखन' जी के जन्म के विषय में अभी तक ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है लेकिन इनकी मृत्यु संभवतः सं० १६३०-३१ में किसी समय हुई थी। 'आदिग्रंथ' में इनके केवल दो पद संग्रहित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये राम नाम के प्रति गहरी निष्ठा रखने वाले कोई सरल हृदय हिंदू थे; यद्यपि इनकी भाषा सीधी-सादी है, परंतु कहीं-कहीं मुहावरेदार भी हैं। गुरु रामदास का जन्म संवत् १५९१ माना जाता है। गुरु रामदास की मृत्यु के पश्चात् चतुर्थ गुरु के रूप में वे गद्दी पर बैठे। इनके पश्चात् ही सिख गुरुओं की परंपरा एक कुटुंब के लोगों में चलने लगी। यह बहुत मृदु स्वभाव के थे, तथा इनकी रचनाएं 'आदिग्रंथ' में महला ४ के अंतर्गत आती हैं। इनके पद अधिकतर छोटे-छोटे हैं, किंतु उनमें प्रयुक्त शब्दों का वर्णन शैली से प्रतीत होता है कि काव्य रचना पर इनका अच्छा अधिकार है। धर्मदास कबीर पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा के मूल प्रवर्तक थे। इनकी रचनाएं

पौराणिक पद्धति पर आधारित और भक्ति रस से ओत-प्रोत हैं। इनका कोई ग्रंथ नहीं है, केवल फुटकर पद भिन्न-भिन्न संग्रह में मिलते हैं। "धर्मदास की शब्दावली का भी संतों में बड़ा आदर है। इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिए हुए हैं, उसमें कठोरता और कर्कशता नहीं है। इन्होंने पूर्वी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंजक चित्र अधिक मार्मिक हैं क्योंकि इन्होंने खंडन-मंडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेम तत्व को लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है।" ८

दादूपंथ का प्रवर्तन सुप्रसिद्ध संत 'दादूदयाल' ने किया। इनका जन्म संवत् १६०१ या सन् १५४४ माना जाता है। दादूदयाल ने अनेक पद व साखियों की रचना की हैं। अतः इनकी रचनाओं के कई संग्रह प्रकाशित हुए 'रज्जब' जी इनके प्रमुख शिष्य थे। इनकी भाषा मुख्यतः राजस्थानी हैं, परंतु उसमें गुजराती, सिंधी, पंजाबी, मराठी, फारसी आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। "दादू ने लोगों को एकता के महत्व समझाया साथ ही ऐसी राह की ओर अग्रसर किया जिसको हिंदू और मुस्लिम दोनों ने स्वीकारा। वे कहते थे कि जिसका कोई ईमान नहीं वह न हिंदू है न मुसलमान, दादू ने वैषम्य को दूर कर समता स्थापित करने का प्रयास किया।" ९

गुरु अर्जुनदेव चतुर्थ सिक्ख गुरु रामदास के पुत्र थे, इनका जन्म संवत् १६२० को हुआ। इन्होंने 'आदिग्रंथ' के लिए गुरुओं की वाणी एकत्र करके उसका संपादन किया, जो आज तक सिख मत का आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक है। संग्रहित पदों को एकत्र करने के लिए इन्हें स्वयं घूमना पड़ा। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य प्रसिद्ध भक्तों के अनुयायियों को आमंत्रित कर, उनसे श्रेष्ठ भजनों को चुनवाया एवं संग्रहित रचनाओं के पाठ पर गंभीरता के साथ विचार किया। इन्होंने 'आदिग्रंथ' को गुरुअंगद द्वारा निर्मित गुरुमुखी लिपि में भाई गुरदास से लिखवा कर भाद्रपद १ सं० १६६१ को तैयार किया और उसे उच्च स्थान पर स्थापित कर स्वयं नीचे बैठने लगे। इस ग्रंथ में इनकी रचनाएं सबसे अधिक हैं, जो महला ५ के अंतर्गत आती हैं। 'सुखमनी' इनकी उच्च

कोटि की रचना है। संत बषनाजी का जन्म काल संवत् १६०० से १६१० के बीच अनुमानित है। उनकी रचनाओं का संग्रह 'बषना जी की वाणी' नाम से जयपुर के श्री लक्ष्मीराम ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित है। इसमें उनके १६७ पदों के अतिरिक्त ४० अंगों में विभाजित की हुई अनेक साखियां भी संग्रहित हैं। 'बावरी साहिबा' बावरी पंथ की प्रसिद्ध संत थी। इनके जन्म के बारे में पता नहीं चलता, लेकिन "ये अकबर की संवत् १५९९ से १६६२ की समकालीन जान पड़ती है। इनकी रचनाओं के केवल २ पद ही उपलब्ध हैं। इनकी साधना-पद्धति, व्यक्तिगत जीवनी और काव्य के बिषय में कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती।" १०

संत वीरसाहब बावरी साहिबा के शिष्य थे। इनके जन्म के बारे में भी कुछ ज्ञात नहीं है, परंतु अनुमानतः इनका समय १७वीं शताब्दी उत्तरार्ध रहा होगा और बावरी साहिबा की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी रहे होंगे। इनकी केवल तीन रचनाएं मिलती हैं, जिनका पाठ कुछ संदिग्ध जान पड़ता है। संत गरीबदास दादूदयाल के ५२ शिष्यों में एक थे। इनका जन्म संवत् १६३२ विक्रम माना जाता है। इनकी वाणियों की संख्या २३०० बतलाई जाती है, परंतु कम संख्या में ये रचनाएं उपलब्ध हैं। संत 'हरिदास निरंजनी' दादूपंथ की परंपरा के अनुसार दादू शिष्य प्रागदास के शिष्य कहलाए। इनकी रचनाओं का संग्रह 'श्रीहरि पुरुष जी की वाणी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। संग्रहित पदों में अधिकांश पाठ शुद्ध एवं प्रामाणित नहीं माना जाता। संत 'आनंदघन' के जीवन वृत्त के बारे में पता नहीं चलता। "इनकी केवल दो रचनाएं ही उपलब्ध हैं, 'आनन्दघन चौबीसी' और 'आनन्दघन बहोत्तरी' में निर्गुण भाव के भजन हैं, परन्तु इन दोनों में ही संतों की भी वाणियां मिल गई हैं।" ११ जिनके अनुसार इनका जीवन-कालानुसार विक्रम की १७ वीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है। संत 'भीषण' जी के जीवन काल का भी पता नहीं चलता, यह दादू शिष्य संतदास जी के शिष्य थे। इनकी केवल दो रचनाएं उपलब्ध हैं। संत 'वजीद' जी संत दादूदयाल के १५२ शिष्यों में अन्यतम थे। इनका जीवन काल १७

वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाओं की संख्या अधिक बताई जाती है, परंतु सभी अप्रकाशित हैं तथा इनका कोई विस्तृत विवरण भी उपलब्ध नहीं है। गुरु तेगबहादुर के पुत्र गुरु गोविंदसिंह थे, इनका जन्म संवत् १६७९ में हुआ था, उन्होंने बहुत से पदों तथा साखियों की रचना की थी, जो 'आदिग्रंथ' में महला १० में संग्रहित हैं। संत 'मलूकदास' का जन्म संवत् १६३१ में कड़ा, जिला इलाहाबाद में हुआ। इनकी रचनाओं की संख्या ९ बताई जाती है, जो अप्रकाशित हैं। "बेलेवेडियर प्रेस ने इनकी फुटकर बानियों का संग्रह 'मलूकदास जी की बानी' के नाम से प्रकाशित किया है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं-रत्नखान और ज्ञानबोध। यद्यपि इनके संप्रदाय का तत्त्ववाद अन्य संप्रदायों के तत्त्ववाद से कुछ भिन्न है। भाषा में प्रवाह है और अन्य संतों की भाषा के समान सधुक्कड़ी वृत्ति का आधिक्य नहीं है।" १२

संत तुरसीदास 'निरंजनी संप्रदाय' के महात्मा थे। इनकी रचना संग्रह का प्रतिलिपि काल सं० १७४५ है जिसके आधार पर इन्हें सं० १७ वीं का माना जाता है। इनकी ४२०२ साखियों, ४६१ पदों तथा चार छोटी-छोटी रचनाओं का एक संग्रह डॉक्टर बड़थवाल के पास आया था। "इनकी रचनाओं में निरंजनी संप्रदाय की बातें कही गई हैं, गुरु साधु और भगवान की सेवा का उपदेश दिया गया है और मनुष्य जन्म को भजन के द्वारा चरितार्थ करने की सलाह दी गई है।" १३ संत रज्जब जी संत दादूदयाल के शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १६२४ के लगभग माना जाता है। यद्यपि इनकी वाणियों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है, लेकिन संपादन अच्छे ढंग से न होने के कारण यह रचनाएं विकृत रूप में हैं। इसमें ५४२८ साखियां, २१८ पद संग्रहित हैं। संत सुंदरदास दादूदयाल के शिष्य थे, इनका जन्म संवत् १६५३ को हुआ, इन पर रज्जब जी का बहुत प्रभाव रहा। "इन्होंने छोटे-बड़े ४२ ग्रंथों की रचना की, पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा संपादित 'सुंदर ग्रंथावली' दो भागों में प्रकाशित हो चुका है, इनके दो बड़े ग्रंथ 'ज्ञान समुद्र' और 'सुंदर विलास' हैं। इनकी रचनाएं दार्शनिक हैं।" १४ संत यारी साहब का जन्म १७वीं शताब्दी के

पूर्वार्ध माना जाता है। इनकी रचनाओं का एक छोटा संग्रह 'रत्नावली' नाम से प्रसिद्ध है। कुछ अन्य पद भी भिन्न-भिन्न संग्रह में मिलते हैं। रत्नावली नामक रचना में अध्यात्म-योग और संत-साहित्य की अन्यान्य परिचित बातों का उपदेश है। बाबा धरणीदास का जन्म काल संभवतः विक्रम की १७ वीं शताब्दी के अंतिम चरण से १८ वीं शताब्दी के तृतीय चरण तक रहा होगा। इनकी रचनाओं में 'प्रेमप्रगास', 'रत्नावली' प्रसिद्ध हैं, जो अभी तक अप्रकाशित हैं। इनकी कुछ चुनी हुई बानियां 'धरनीदास की बानी' नाम से बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित हो चुकी हैं। संत बुल्ला साहब का जन्म संवत् १६७९ में हुआ। इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'शब्दसागर' नाम से प्रकाशित हो चुका है। कुछ अन्य पद 'आदि महात्माओं की वाणी' में मिलते हैं। गुरु गोविंद सिंह का जन्म संवत् १७२३ को हुआ था इन्होंने 'खालसा पंथ' की स्थापना की। उनकी रचनाएं सिखों के 'दशमग्रंथ' में संग्रहित हैं। एक श्लोक 'आदिग्रंथ' में भी है। इनकी रचनाओं में पदों, कवित्तों, सवैयों, साखियों की भरमार है। इनकी भाषा भी अन्य गुरुओं की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और प्रवाहमयी है।

संत बुल्लेशाह का जन्म संवत् १७३७ में हुआ था इनके दोहें सीहकी, काकी, अठवारा आदि रचनाएं प्रसिद्ध हैं। इनमें सरल पंजाबी के उदाहरण मिलते हैं। संत गुलाल साहब की जन्म तिथि अज्ञात है इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'गुलाल साहब की वाणी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके बहुत से पद 'महात्माओं की वाणी' के अंतर्गत आ जाते हैं। इनके दो ग्रंथ 'ज्ञानगुप्ती' और 'राम सहस्रनाम' अभी तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। संत जगजीवन दास जी का जन्म संवत् १७२७ माना जाता है। इनकी ७ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। केवल 'शब्दसागर' बेलवेडियर प्रेस द्वारा दो भागों में प्रकाशित है। संत 'दीन दरवेश' का समय विक्रम के १८ वीं शताब्दी से १९ वीं के प्रथम चरण तक माना जाता है। इनकी कुंडलियां प्रसिद्ध हैं। संत 'किनाराम' की प्रधान रचना 'विवेकसार' है इसके अतिरिक्त छोटी-छोटी पुस्तकें 'रामगीता', 'गीतावली', 'रामरसाल' आदि हैं, जो प्रकाशित

भी हो चुकी हैं। संत 'दूलनदास' का जन्म संवत् १७१७ में हुआ इन पर सगुणोपासना का अधिक प्रभाव है। इनकी लगभग एक दर्जन रचनाएं अप्रकाशित हैं। इनकी चुनी हुई रचनाओं का संग्रह बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित किया गया है। संत दरिया साहब का जन्म संवत् १७३३ में हुआ, इनकी रचनाओं का कुछ पता नहीं चलता, फिर भी इनकी वाणी की संख्या हजार कहीं जाती है। संत 'गरीबदास' का जन्म संवत् १७७४ माना जाता है। इनकी रचनाओं की संख्या अधिक है। 'गरीबदास की वाणी' नाम से एक संग्रह बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित है। संत 'दरिया साहब' (बिहार वाले) का जन्म काल संवत् १७३१ माना जाता है। इनकी लगभग २० रचनाएं बतलाई जाती हैं, जिनमें 'दरियासागर', 'ज्ञानदीपक' प्रकाशित हैं। फुटकर पदों एवं साखियों का छोटा सा संग्रह प्रकाशित हुआ है। संत 'चरणदास' का जन्म संवत् १७६० को हुआ था, इन्होंने लगभग २१ ग्रंथ लिखे। संत 'शिवनारायण' की जन्म तिथि अज्ञात है। इनकी १६ रचनाएं प्रसिद्ध हैं, किंतु 'गुरुअभ्यास' और 'शब्दावली' अभी तक अप्रकाशित हैं। संत 'भीखासाहब' की रचनाओं में 'रामकुंडलिया', 'रामसहस्रनाम', 'रामशब्द', 'रामराग', 'रामकवित्त', 'भगतवच्छावली' प्रसिद्ध हैं। "संत चरणदास की शिष्या 'दयाबाई' और 'सहजोबाई' भी अपनी रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। यह दोनों ही १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वर्तमान थीं। इन दोनों महिलाओं की रचनाओं में गुरुभक्ति और भगवत्प्रेम का वर्णन है।" १५ संत दयाबाई की रचना 'दयाबोध' के साथ 'विनय मालिका' नाम की छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुआ है। साथ ही सहजोबाई की रचना 'सहज प्रकाश' भी प्रकाशित हो चुका है। संत 'रामचरण' का जन्म संवत् १७७६ में हुआ। लगभग दो दर्जन छोटे-बड़े ग्रंथों का एक वृहत् संग्रह 'अणभैवाणी' नाम से प्रकाशित है।

आधुनिक युग के संतों में सर्वप्रथम रामरहंसदास हैं, जिनका जन्म संवत् १८८२ में हुआ था। 'बीजक' के आधार पर इन्होंने अपनी पुस्तक 'पंचग्रंथी' का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त 'घटरामायण', 'रत्नसागर', 'शब्दावली' नामक इनकी रचनाएं बेलवेडियर प्रेस द्वारा

प्रकाशित हो चुकी है। साधु 'निश्चलदास' की जन्मतिथि अज्ञात है। वे शास्त्रों का अध्ययन कर 'व्याकरण दर्शन' साहित्य आदि में पारंगत हुए। उनके ग्रंथों में 'विचार सागर' तथा 'वृत्ति प्रभाकर' अधिक प्रसिद्ध हैं। संत 'शिवदयाल सिंह' राधास्वामी सत्संग के मूल प्रवर्तक थे। इनका जन्म संवत् १८७५ को हुआ, इनकी दो प्रकाशित रचनाएं प्रथम पद्य व द्वितीय गद्य में हैं, दोनों का नाम 'सारवचन' है। संत 'शालिग्राम रायबहादुर' राधा स्वामी सत्संग के द्वितीय गुरु थे। इनका जन्म संवत् १८८५ में हुआ। उनकी पद्य रचनाओं का प्रधान संग्रह 'प्रेमबानी' नाम से चार भागों में प्रकाशित है। इनकी गद्य पुस्तक के भी बहुत हैं। स्वामी रामतीर्थ संवत् १९३० में उत्पन्न हुए। इनकी उपलब्ध रचनाओं में सच्चे संत के विचार भावावेशक शैली में लिखें, व्यक्त दिखाई पड़ते हैं। यहीं नहीं उनमें सात्विक जीवन की जागरूकता भी दिखती है और उनकी पद्य भाषा में फारसी और अरबी शब्दों का भी बाहुल्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन संत कवियों की एक परंपरा चली आ रही है। कबीर, रैदास, जंभनाथ, हरिदास, गुरुनानक, मलूकदास, सुंदरदास, यारी साहब, भीखासाहब, प्राणनाथ आदि प्रसिद्ध संत कवि संपूर्ण संत काव्य का प्रतिनिधित्व करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

- १- आचार्य रामचंद्र शुक्ल-हिंदी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनरावृत्ति-२०१५, पृष्ठ-४३।
- २- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-२०१५, पृष्ठ-५४।
- ३- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ग्यारहवीं आवृत्ति-२०१३, पृष्ठ-७९।
- ४- आचार्य रामचंद्र शुक्ल-हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-५३।
- ५- संपादक डॉ नगेंद्र-हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्रकाशन, ४०वां संस्करण-२०१३, पृष्ठ-१३१।

- ६- परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत परम्परा, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, २०१९, पृष्ठ-२१३
- ७- परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत परम्परा, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, २०१९, पृष्ठ-२१८
- ८- आचार्य रामचंद्र शुक्ल-हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-५४।
- ९- प्रो० नंद किशोर पाण्डेय-दादू पंथ के शिखर संत, सामाजिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-२०२१, पृष्ठ-२८।
- १०- संपादक डॉ नगेंद्र-हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-१३०।
- ११- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास, पृष्ठ-९३।
- १२- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास, पृष्ठ-९३।
- १३- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास, पृष्ठ-९३।
- १४- संपादक डॉ नगेंद्र-हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-१२९।
- १५- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास, पृष्ठ-९४।

वृद्ध जीवन की विडंबनाएँ और रेहन पर रगघू उपन्यास

संत कीनाराम त्रिपाठी

शोधार्थी हिंदी विभाग,
हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
तेलंगाना, मो.नं. ९९६९७७७८६४
ईमेल- 20hph08@uohyd.ac.in

संजीव सान्याल ने अपनी पुस्तक ऊप घर्ही हिं-
हम का आरम्भ करते हुए लिखा है कि भविष्य में बीसवीं
सदी के भारत की दो तिथियाँ याद रखी जाएंगी और
स्कूलों में पढ़ाई जाएंगी। वे तिथियाँ हैं- साल १९४७ और
१९९१।१. इनमें से पहली तिथि का महत्त्व तो निर्विवाद है
क्योंकि यही वह साल था जब भारत ब्रिटेन की औपनिवेशिक
दासता से मुक्त हुआ था। विभाजन की तिकता के बावजूद
एक लम्बी परतन्त्रता से मुक्ति के लिए १९४७ का साल इस
राष्ट्र के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध होता है।

लेकिन १९९१ ? वर्ष १९९१ भारतीय इतिहास
में इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसी वर्ष भारत ने अपने ऊपर
लगाए गए सभी आर्थिक प्रतिबंधों को हटाते हुए उदारीकरण
की प्रक्रिया की ओर तीव्र कदम बढ़ाए। पी. सी. महालनोबिस
के साथ मिलकर पं. नेहरू ने विकास का जो सामाजिक
ढांचा भारतीय परिवेश के लिए तैयार किया था, उसे लाँघते
हुए भारत एक ऐसे पूँजीवादी जगत् में प्रवेश कर गया, जहाँ
सभी पुराने प्रतिमान स्वतः खण्डित हो गए। भूमंडलीकरण
की प्रक्रिया तीव्र हुई। इससे पूरे भारतीय समाज पर गहरा
असर पड़ा। भूमंडलीकरण ने भारत के आर्थिक, सामाजिक,

राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक ढांचे को बुनियादी
तौर पर प्रभावित किया। एक ओर कुछ लोगों के लिए रोजगार
एवं व्यवसाय के नित-नए अवसर सुलभ हो रहे थे तो दूसरी
ओर समाज के अनेक समुदायों एवं पारम्परिक कारीगरों के
लिए अवसर समाप्त होते चले गए। उदाहरण के लिए बिहार
में रेशम के कुटीर उद्योग में लगी महिलाओं के रोजगार
चीन और कोरिया से आयातित कृत्रिम रेशम ने समाप्त कर
दिया। तटीय क्षेत्रों में बड़े बड़े जहाजों के हस्तक्षेप ने
मछुआरों को व्यवसाय-विहीन कर दिया। गुजरात में जंगल
से गोंद बीनने वाली महिलाओं को सूडान से आने वाले गोंद
ने बाजार से अपदस्थ कर दिया। इन सारी नवीन और
अपरिचित परिस्थियों का लाभ उठाया उन लोगों ने जिनके
पास पूँजी थी। हर तरफ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सेंटर्स
और नए-नए मॉल खुलने लगे थे। पूरा समाज एक बड़े
बाजार में तब्दील हो गया। जहाँ कविता पहले कहती थी-

दुनिया में हूँ दुनिया का तलबगार नहीं हूँ।

बाज़ार से गुज़रा हूँ खरीदार नहीं हूँ।२.

बदले हुए समय ने उसे कहने पर विवश किया कि

-

अब हम भी सोचते हैं कि बाज़ार गर्म है।

अपना जमीर बेच के दुनिया खरीद लें।।३.

जहाँ व्यक्ति पहले बाज़ार से अप्रभावित था या कम प्रभावित था, वहीं बाज़ार के अधिकाधिक हस्तक्षेप ने उसे अपना व्यवहार बदलने पर विवश किया है। काशीनाथ सिंह का उपन्यास 'रेहन पर रघू' भूमंडलीकरण के इसी दबाव के कारण बदल रही भारतीय समाज की संरचना और संबंधों की बुनावट को रेखांकित करता है तथा पुरानी पीढ़ी इस बदलाव के संकट से किस तरह जूझ रही है, इसकी भी पड़ताल करता है।

काशीनाथ सिंह ने कुल चार उपन्यास लिखे हैं, जिनमें सबसे पहला उपन्यास 'अपना मोर्चा' जोकि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र-आन्दोलन पर आधारित था, सन १९७२ में प्रकाशित हुआ। उनका दूसरा एवं सर्वाधिक विवादित तथा चर्चित उपन्यास 'काशी का अस्सी' २००२ में प्रकाशित हुआ। इसमें बदलते समय के साथ छीज रहें नगर की व्यथा-कथा बड़े ही विलक्षण ढंग से कही गई है। इस उपन्यास के आरम्भ में ही काशीनाथ सिंह ने हिदायत दी है कि 'यह उपन्यास बच्चों और बूढ़ों के लिए नहीं, वयस्कों के लिए है।'४. उनके उपन्यास रेहन पर रघू को पढ़कर यह स्पष्ट होता है कि यह उपन्यास वयस्कों से आगे बढ़कर प्रौढ़ों के लिए है। यहाँ लेखक पहले से अधिक गंभीर है। भाषा में वह खिलंदड़पना नहीं है, लेकिन वह पहले की ही तरह सजीव और मर्मस्पर्शी है, इसमें संदेह नहीं, यह एक तरह से उनकी गाँव वापसी भी है। 'काशी से अस्सी' से 'रेहन पर रघू' की साहित्य-यात्रा नगर से घर की यात्रा है। उपन्यास के आरम्भ में उन्होंने लिखा है-

अगर/ काशी का अस्सी/ मेरा नगर था/ तो/ रेहन पर रघू/ मेरा घर है और शायद आपका भी५.

गाँव-घर की इस कहानी को कहने के लिए काशीनाथ ने जिस चरित्र को अपने उपन्यास का नायकत्व सौंपा है, वे पहाड़पुर के अध्यापक रघुनाथ हैं, जिनकी शिनाख्त लेखक ने कुछ इस तरह की है- पहाड़पुर में रघुनाथ एक ही थे। वैसे कहने को तो रामनाथ, शोभनाथ, छविनाथ, शामनाथ, प्रभुनाथ वगैरह भी थे लेकिन वे रघुनाथ नहीं थे। छठ वे पतले और लंबे थे इसलिए झुककर चलते थे। इस झुके रहने को उनकी विनम्रता समझा जाता था। इसमें

उन्होंने दो खूबियाँ और जोड़ दीं- मुसकान और सहमति। कोई कुछ कहे, वे मुस्कराते रहते थे और समर्थन में सर हिलाते रहते थे। इस तरह रघुनाथ विनम्र, मितभाषी और हँसमुख व्यक्तित्व के स्वामी थे।

रघुनाथ के जीवन में सबकुछ एकरेखीय चलता रहा, जब तक कि उनकी संतानें अपने भविष्य का निणय स्वयं नहीं करने लगीं। इससे पहले उन्होंने जो कुछ पाना चाहा, वह सब अर्जित किया। उनकी आकांक्षाएँ भी बहुत बड़ी नहीं थीं। इस संयोग को वे ईश्वर की अहैतुक कृपा मानते थे। ' उन्होंने चाहा - सरला पढ़ लिख कर नौकरी करे। सरला पढ़ लिखकर नौकरी करने लगी। उन्होंने चाहा- संजय सॉफ्टवेयर इंजीनियर बने। वह सॉफ्टवेयर इंजीनियर ही नहीं बना, अमेरिका तक चला गया। उन्होंने चाहा- मैनेजर समधी बनें। संजय ने यह नहीं चाहा। उसने वह किया, जो उसने चाहा। रघुनाथ का चाहा रह गया।'६. अब तक रघुनाथ ने जो कुछ चाहा था, वैसा ही हुआ था। यह पहली बार एशिया होता है कि वे जैसा चाहते हैं, वैसा नहीं होता। वर पहली बार जीवन में असमर्थ अनुभव करते हैं। वस्तुतः यह उपन्यास एक नायक के विवश और असमर्थ होते जाने की निर्मम व्यथा-कथा है।

रघुनाथ भारतीय समाज के एक सिम्बोलिक चरित्र हैं। उन्हें परिवार से सामन्ती संस्कार मिले हैं और प्रगतिशीलता उन्होंने अपने अध्यवसाय से अर्जित की है। लेकिन इस चरित्र के साथ समस्या यह है कि यह न पूरी तरह प्रगतिशील हो पाता है, न ही सामन्ती। बल्कि पुरातन संस्कार उनकी प्रगतिशीलता पर हावी होते रहते हैं। यह उपन्यास ऐसा ही किंकर्तव्यविमूढ़ नायक की गाथा है, जो न तो पारम्परिक मूल्यों को त्याग पा रहा है, न ही आधुनिकता से उपजे प्रभावों को स्वीकारने में समर्थ है। यदि रघुनाथ का चरित्र इस विरोधाभास में विकसित होता है, तो यह रचना का दोष नहीं, संभवतः लेखक ऐसे चरित्र को ही गढ़ना चाहता था, जिसके व्याज से सम्पूर्ण भारतीय समाज की असलियत उकेरी जा सके। सार्वजनिक जीवन में रघुनाथ जहाँ एक ओर निचली जातियों के लिए आरक्षण की हिमायत करते हैं और दलित अधिकारों का खुल कर समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर व्यक्तिगत जीवन में बेटी के अंतर्जातीय विवाह

के विरुद्ध है। एक ओर उनमें ऐसा जातीय अभिमान है कि बेटे ने कायस्थ लड़की से विवाह किया तो कुपित हो गए, लेकिन उसके द्वारा सूटकेस भरकर भेजे गए पैसों के प्रति कोई अस्वीकार भव नहीं है। वे उसे सहर्ष स्वीकारते ही नहीं हैं, बेटे के प्रति उनकी सारी नाराजगी भी धुल जाती है। यह दोहरा चरित्र भारतीय समाज का बुनियादी स्वभाव है।

उपन्यास में दो संज्ञाएँ अनधिकृत और अनायास ही प्रवेश कर जाती हैं। पहला है रघुनाथ का बुढ़ापा और दूसरा है अमेरिका। बुढ़ापा का एहसास रघुनाथ को ऐन्द्रिक चेष्टा के गहन क्षणों में होता है। वे पाते हैं कि एकाएक वे बूढ़े हो गए हैं। उपन्यास के इस इस हिस्से में पत्नी शीला के साथ उनका संवाद अत्यंत मार्मिक बन पड़ा है। वे कहते हैं- 'नहीं! नहीं, झूठी तसल्ली मत दो! मैं उस पगडंडी को पहचान गया हूँ जिससे चलकर वह देह में घुसता है?' 'कौन वह?' 'बुढ़ापा।' '७. रघुनाथ बोले और फूट-फूट कर रोने लगे। इससे पहले रघुनाथ के वृद्धावस्था की पहचान उनकी बेटी इन शब्दों में करती है- 'सरला ने पिता को देखा- इन्हीं चंद दिनों में कितने बदल गए पिता? गंजे हो गए हैं। सिर से बाल उड़ गए हैं-कनपटियों को छोड़ कर। सामने दो दाँत जाने कब उखड़ गए ! ठोकर बैठ गया है! थोड़ा और झुक गए हैं और बूढ़े की तरह चलने लगे हैं।' '८. रघुनाथ की देह ही शिथिल नहीं होती, मन भी टूटता चला जाता है। बड़ा बेटा और बेटी तो अपने पैरों पर खड़े होते ही रघुनाथ के निणयों की उपेक्षा करते ही हैं, उनका सबसे छोटा बेटा धनंजय, जो अपनी अकर्मण्यता और मूढ़ता के कारण असफल होता चला जा रहा है, पिता पर ही अपनी असफलता का मढ़ना चाहता है। वह चालाक तो है, लेकिन मेधावी नहीं। एक सस्ती चालाकी ने उसके व्यक्तित्व को अभिभूत कर रखा है। इसके बल पर वह अपने पिता को धोखे में रखना चाहता है। भाई द्वारा भेजे गए पैसे पिता को देने के पहले ही वह उसमें से चालीस हजार निकाल लेता है। रघुनाथ द्वारा परीक्षा परिणाम पूछे जाने पर वह आरक्षण-व्यवस्था को कोसकर अपनी असफलता को न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न करता है। उसके व्यवहार से रघुनाथ और खिन्न, और दुखी होते चले जाते हैं।

उपन्यास में अमेरिका महज़ एक भौगोलिक उपस्थिति नहीं है, बल्कि एक मानसिक प्रत्यय है। किसी के उसकी

अदम्य इच्छाओं को पूरा करने वाला कल्पतरु, जिसकी शाखाओं में डॉलर के फूल-पात लगते हैं। दूसरे के लिए ऐसा मानसिक संत्रास, जो उससे जीवन की संचित निधि, उसकी वे संताने छिन लेने वाला दानव है, जिनकी सेवा-सुश्रुषा में वह अपने जीवन का उत्तरार्द्ध व्यतीत करने की आशा पाले हुए है। रघुनाथ के बड़े बेटे संजय ने अपने प्रत्येक रिश्ते का प्रयोग अमेरिका पहुंचने की सीढ़ी के रूप में किया, चाहे वह उसका पिता हो या नव-विवाहिता पत्नी। अमेरिका में बसने के लिए वह अपनी पत्नी को भी छोड़ने से नहीं हिचकता। अमेरिका के बारे में सोनल का कथन विचारणीय है कि वह एक ऐसा समाज है ' जिसमें डॉलर को छोड़कर किसी और चीज जैसे प्यार- के लिए ईर्ष्या करना पिछड़ापन और गंवरपन था।' जब एकांत में बैठकर रघुनाथ यह सोचते हैं कि 'सच सच बताओ रघुनाथ, तुम्हें जो मिला है, उसके बारे में कभी सोचा था? कभी सोचा था कि एक छोटे से गाँव से लेकर अमेरिका तक फ़ैल जाओगे?' यह कहना कठिन है कि वे इस स्थिति से कितने प्रसन्न हैं और कितने क्लान्त! इस विस्तार ने उन्हें अधिक छिछला और सतही बना दिया है। भूमण्डलीकरण के एक बड़े विचारक हर्बर्ट शिलर का मानना है कि 'सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के दौर का एक और फेनोमिना है, काल के आयाम का ढह जाना।' '९. यह बात ठीक है। जो काम आज से पहले महीनों-वर्षों में पूरा होता था, उसे तकनीक और अन्य संचार माध्यमों ने इस हद तक सरल बना दिया है कि वे काम आज चुटकियों में पूरे हो जाते हैं। लेकिन इस बदली हुई परिस्थिति ने मनुष्य को हद दर्जे का महत्वाकांक्षी और स्वार्थी बना दिया है। वह इस हद तक आत्मकेंद्रित हो गया है कि अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी भी संबंध और व्यक्ति को दाँव पर लगा सकता है। इसके पीछे का दर्शन वही है जो प्रोफेसर सक्सेना ने संजय को समझाया था- 'संजू! ला ऑफ ग्रेविटेशन का नियम केवल पेड़ों और फलों पर ही नहीं लागू होता, मनुष्यों और संबंधों पर भी लागू होता है। हर बेटे बेटी के माँ-बाप पृथ्वी है। बेटा ऊपर जाना चाहता है और ऊपर, थोड़ा सा और ऊपर, माँ बाप अपने आकर्षण से नीचे खींचते हैं। आकर्षण संस्कार का भी हो सकता है और प्यार का भी, माया मोह का भी! मंशा गिराने की नहीं होती, मगर गिरा देते हैं।' '१०. यह दर्शन जिस समाज और व्यक्ति का आदर्श बन जाय, वहाँ स्वार्थ-सिद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरी बात

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा एवं स्रोत

सुप्रिया मिश्रा

हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की परम्परा का प्रवर्तन उन्नीसवीं शती में हुआ। इससे पूर्व विभिन्न कवियों एवं लेखकों द्वारा ऐसी पुस्तकें अवश्य लिखी गयीं जिनमें विभिन्न कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर आंशिक रूप से प्रकाश डाला गया है। किन्तु इनमें काल-क्रम, सन्-संवत् तथा विषय-वस्तु आदि का एसे-एसे व्यक्तित्व विवेचन नहीं मिलता जिससे कि इन्हें इतिहास की सज़ा दी जा सके। इन्हें हम स्रोत ग्रन्थ के रूप में देख सकते हैं। इन्हीं के सहारे प्रारम्भिक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गए। जिनके विषय में हमें अब तक कोई अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती जिनमें से कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ अब तक अनुपलब्ध एवं अप्रकाशित हैं।

हिन्दी साहित्येतिहास स्रोत-

हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री को मुख्यतः दो भागों में रखा जा सकता है-

(क) अन्तः साक्ष्य- अन्तः साक्ष्य के अन्तर्गत उपलब्ध सामग्री को मुख्यतः तीन रूपों में बाँटा जा सकता है-

१. भक्त एवं सन्त कवियों से सम्बद्ध आधारभूत ग्रन्थ
२. कवियों- विषयक काव्य संग्रह
३. साहित्यकारों की प्रकाशित और अप्रकाशित

रचनायें।

भक्त एवं सन्त कवियों से सम्बद्ध आधारभूत ग्रन्थ-

इस कोटि के अन्तर्गत ऐसे ग्रन्थ आएँगे जिनकी रचना भक्त एवं सन्त कवियों का परिचय देने के लिए किया गया था।

(१) गोकुलनाथ-कृत "वार्ता साहित्य" गोस्वामी गोकुलनाथ 'वल्लभ संप्रदाय' की आचार्य परंपरा में वचनामृत पद्धति के यशस्वी प्रचारक के रूप में विख्यात हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में गोकुलनाथ जी का उल्लेख उनके 'वार्ता-साहित्य' के कारण हुआ है। गोकुलनाथ रचित दो वार्ता ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

१ पहला 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' दूसरा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' इन दोनों ग्रन्थों

में पुष्टिमार्ग में दीक्षित वैष्णवों की जीवनियाँ गद्य में वर्णित हैं। अष्टछाप के कवियों का

परिचय भी इन्हीं ग्रन्थों में दिया गया है। यह ग्रन्थ इतिहास लेखन के अंकुरावस्था का प्रारम्भिक ग्रन्थ माना जा सकता है।

(२) नाभादास कृत- भक्तमाल

'भक्तमाल हिन्दी का एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

इसके रचयिता नाभादास जी है।

इसका रचना काल संवत् १५०० से १६८० के बीच (सन् १५८५) में माना जाता है। भक्तमाल के दो पहलू स्पष्ट ही प्रतीत होते हैं, पहला छप्पयों में 'रामनुजाचार्य' से पूर्व के सभी प्रकार के भक्तों के नामों का स्मरण है। दूसरे में एक-एक कवि या 'भक्त' पर एक पूरा छप्पय जिसमें उस भक्त के विशिष्ट गुणों पर प्रकाश पड़ता है। जिनकी संख्या विद्वानों ने १०८ मानी है। नाभादास जी के बाद भक्तमाल की एक परम्परा ही चल पड़ी। कितनी ही भक्तमालाएँ लिखी गईं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने अपने-अपने सम्प्रदायों के भक्तों के विवरण विशेषतः प्रस्तुत किए। भक्तमालों की मूल प्रेरणा इस धार्मिक भावना में थी कि भक्त कीर्तन भी हरिकीर्तन है। इस बिन्दु से आरम्भ होकर विविध प्रकार की घटनाओं से युक्त होकर ये भक्तों की कथाएँ अलौकिक तत्वों से युक्त होते हुए भी भक्तों की जीवन-कथा प्रस्तुत करने में प्रवृत्त हुईं।

कवि ने इन भक्तों के जन्म मरण की तिथियाँ अथवा अन्य तथ्यों की गणना में विशेष रूचि व्यक्त नहीं की। भक्तों के जीवन की अलौकिक घटनाओं का वर्णन कर जनता के हृदय में उनके जीवनादर्शों के प्रति आस्था उत्पन्न करना ही कवि का मूल लक्ष्य रहा है। चरितवर्णन में नाभादास जी ने प्रायः तीन स्रोतों से सामग्री संकलन किया है- 'किंवदंतियाँ, धार्मिक ग्रन्थ तथा समकालीन भक्तों के सम्बद्ध में उनका अपना ज्ञान।' नाभादास जी ने यहाँ किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया है, निर्गुण और सगुण विचारधारा के सभी भक्तों के प्रति उनके मन में समान श्रद्धा है। भक्तमाल की रचना ब्रजभाषा में हुयी है। इसकी भाषा शैली प्रौढ़ एवं परिमार्जित है- भक्तों और भक्तकवियों के जीवनचरित को सुरक्षित रखने में 'भक्तमाल' का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है।

२ भक्तमाल के टीकाकारों का उल्लेख भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने 'उत्तरार्द्ध

भक्तमाल' के एक छप्पय में किया है -

कृष्णादास बंगाल कृष्ण-पद-पदुम परम रत
प्रियादास सुखदास प्रिया जुग चरन कुमुद नत
ललित लाल जी दास एक आँरहु कोउ लाला
लाल गुमानी तुलसीराम पुनि अगगरवाला

परतापसिंह सिधु आपती भूपति जेहि हरि-चरन-
रति ए भक्तमाल रस जाल के टीकाकार उदार मति

इसमें निर्माकित टीकाओं का उल्लेख हुआ है -

१. कृष्णादास कृत बंगला टीका। इस टीका का उल्लेख सबसे पहले हुआ है। संभवतः यह प्रियादास की टीका (संवत् १७६९ वि०) से भी पहले की है।

२. प्रियादास की कवित्तबंध टीका - 'रसबोधिनी'।

३. लालदास कृत हिन्दी टीका अथवा भक्त उरवसी नामक फारसी टीका। ४. लाल गुमानी लाल की फारसी टीका।

५. तुलसीराम अग्रवाल की भक्तमाल प्रदीपन नामक उर्दू टीका। ६. प्रतापसिंह कृत भक्तमाल कल्पद्रुम।

(३) गुरु अर्जुन देव कृत- गुरु ग्रन्थ साहिब - आदिग्रन्थ सिख सम्प्रदाय का प्रमुख धर्मग्रन्थ है। इसे ग्रंथ साहिब भी कहते हैं। इसका संपादन सिख सम्प्रदाय के पाँचवें गुरु श्री अर्जुन देव ने किया। इसका प्रथम प्रकाशन १६ अगस्त १६०४ को हरिमंदिर साहिब अमृतसर में हुआ १७०५ में दमदमा साहिब में दशमेश पिता गुरु गोविंद सिंह ने गुरु तेगबहादुर जी के ११६ शब्द जोड़कर इसको पूर्ण किया, इसमें कुल १४३० पृष्ठ हैं।

गुरुग्रन्थ साहिब में मात्र सिख गुरुओं के ही उपदेश नहीं हैं, वरन् ३० अन्य हिन्दू सतं और अलग धर्म के मुस्लिम भक्तों की वाणी भी सम्मिलित है। इसमें जहाँ जयदेव जी और परमानंदजी जैसे ब्राह्मण भक्तों की वाणी है, वहीं जाति-पाति के आत्महंता भेदभाव से ग्रस्त तत्कालीन हिन्दू समाज में हेय समझे जाने वाली जातियों के

३ प्रतिनिधि दिव्य आत्माओं जैसे- कबीर, रविदास, नामदेव, सैणजी, सजना, छीवीजी, धन्ना की वाणी भी सम्मिलित है। पाँचों वक्त नमाज पढ़ने में विश्वास रखने वाले 'शेख फरीद'

के श्लोक भी गुरु ग्रन्थ साहिब में दर्ज हैं।

अपनी भाषायी अभिव्यक्ति दार्शनिकता, संदेश की दृष्टि से गुरु ग्रन्थ साहिब अद्वितीय है। इसकी भाषा की सरलता, सुबोधता, सटीकता जहाँ जनमानस को आकर्षित करती है। वहीं सगीत के सुरों व ३१ रागों के प्रयोग ने आत्मविषयक गूढ़ आध्यात्मिक उपदेशों को भी मधुर व सारग्राही बना दिया है।

गुरु ग्रंथ साहिब में सन्त वाणी

भगत शब्द	
कबीरदास	२२४
नामदवे ६१	
सतं रविदास	४०
भगत त्रिलोचन	४
फरीद जी ४	
भगत बैणी जी	३
भगत धंना	३
भगत जयदेव	२
भगत शब्द	
गतभीखन जी	२

सरू दास १	
भगत परमानन्द	१
भगतसैण जी	१
पीपाजी १	
भगत सधना जी	१
रामानन्द १	
गुरु अर्जुन देव	३

(४) धरुवदास कृत- भक्तनामावली- धरुवदास का राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों में प्रमुख स्थान है। भक्तमाल के अतिरिक्त कई और भी ग्रन्थ लिखे गए जिन पर विद्वानों की

विशेष दृष्टि नहीं गयी उन्हीं में से एक ग्रंथ 'भक्तनामावली' है। इसे सुप्रसिद्ध गोस्वामी हित

हरिवंश जी के शिष्य धरुवदास जी ने बनाया था। इसके बनने का समय विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी का अंत और सत्रहवीं शताब्दी का आरम्भ है। इस ग्रन्थ से भी हमें भक्त कवियों से सम्बन्धित जानकारी मिलती है।

(५) भवानीदास कृत-गोसाई चरित - गोसाई चरित के रचयिता को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा है, किशोरीलाल गुप्त ने स्वयं द्वारा सम्पादित गोसाई चरित में तथ्यों से

४ प्रमाणित करते हुए कहा है कि 'तुलसीदास के तथाकथित शिष्य बेनीमाधव दास की यह

रचना नहीं है। यह रचना गोसाई जी की मृत्यु के प्रायः डेढ़ सौ वर्ष के बाद भवानीदास

द्वारा प्रस्तुत हुई।' सबसे पहले गोसाई चरित का उल्लेख महेश द्य ने अपने 'भाषा काव्य संग्रह' में किया। फिर वहाँ से इसका उल्लेख शिवसिंह सरोज में हुआ। शिवसिंह सरोज के द्वारा इस ग्रन्थ की ख्याति हुई। इसमें न सन संवत है, न गोसाई जी की जन्मभूमि, माता पिता आदि का उल्लेख है, बल्कि इसमें चमत्कारों का कथन हुआ है।

अतः इन उपरोक्त ग्रन्थ से हमें भक्त एवं सन्त कवियों से जुड़ी आरम्भिक एवं महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

(२) कवि-विषयक काव्य संग्रह-

इसके अन्तर्गत ऐसे स्रोत ग्रन्थ आएँगे जिनकी रचना कवियों का परिचय देने के लिए किया गया।

(प) कविमाला- तुलसी (हरिराय) नामक किसी कवि ने 'कविमाला' की रचना (१६५५ई०) में की है। इसमें ७५ कवियों की कविताओं का संकलन किया गया है। इस ग्रन्थ के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती है। यह ग्रन्थ अप्राप्य है। शिव सिंह सेंगर ने ८ कवियों का विवरण एवं ग्रियर्सन ने भी अपने साहित्य के इतिहास ग्रन्थ में कवियों का उल्लेख कविमाला के आधार पर किया है। यह जानकारी हमें इन ग्रन्थों को पढ़ कर मिलती है।

(पप) 'कालिदास हजार' - 'कालिदास हजार' कालिदास त्रिवेदी की सुप्रसिद्ध रचना मानी जाती है, इस संग्रह में सव त १४८१ से लेकर सव त १७७६ तक के २१२ कवियों के १००० (एक हजार) पद संग्रहित है। 'कवियों के काल आदि के निणय में यह ग्रन्थ बड़ा ही उपयोगी रहा है।' शिवसिंह सरोज के अत्यंत महत्वपूर्ण आधार ग्रन्थों में से एक है। 'शिवसिंह सरोज' में ८६ कवियों के परिचय में कहा गया है कि इनकी रचनाये हजार में थी। इन ८६ कवियों का विवरण (सरोज सर्वेक्षण-स० किशोरीलाल गुप्त पृष्ठ संख्या ६५-६६) में मिलता है। 'कालिदास हजार' का सम्पादन किशोरीलाल गुप्त ने स्मृति प्रकाशन से जनवरी १९७८ई० में किया है।

५ (पपप) काव्यनिणय - भिखारीदास के काव्य निणय के निर्माकित कवित्त में ब्रज

कवियों का परिचय मिलता है- काव्य निगन्ध की रचना संवत् १८०३ में हुई इस

ग्रन्थ में इन्होंने काव्य के आदर्शों के साथ उनके कवियों का नाम निर्देश किया है,

परन्तु यह निर्देश सक्षं षोप नामावलि मात्र है।

सूर कैंसौ, मंडन, बिहारी, कालिदास ब्रह्म चिंतामणि, मतिराम, भूषण सो जानिये से ग्यौंनिए। लीलाधर, सने ापति, निपट, नेवाज, निधि नीलकंठ मिश्र, सुखदेव, देव मानिये आलम, रहीम, रसखॉन, रसलीन औ मुबारक से सुमति भए कहां-लौं बखॉनिए। ब्रजभाषा हेत ब्रज-बास हू न अँनुमानौं,

एसे-एसे कविन हूँ की बानी हूँ ते जानिए। ।

(पअ) बलदेव कवि रचित 'सत्कवि गिरा विलास' (सन् १७४६ई०) में सत्रह (१७) कवियों का काव्य संग्रह दिया गया है। (इन कवियों में प्रमुख रूप से केशव, मतिराम, बिहारी व चिन्तामणि आदि हैं।

यह संग्रह सम्वत् १८०३ में प्रस्तुत किया गया। इसमें बलदेव के अतिरिक्त निम्नांकित १७ कवियों की रचनाये है-

शम्भुनाथ मिश्र शुम्भुराज, सोलंकी चिन्तामणि मतिराम

नीलकंठ विश्वनाथ अताई

कविन्द त्रिवेदी कालिदास केशवदास बिहारी

मुकुन्द लाल रविदत्त

बाबू केशव राय

गुरु द्य सिंह अमेठी नवाब हिम्मत बहादुर दूलह सुखदेव पिंगली

(अ) सूदन रचित- 'कवि नामावली' (सन् १७५३ई०) में दस कवित्तो में कवियों का नाम निर्देश मिलता है।

(अप) विद्वन्मोद तरंगिणी- यह संग्रह ओपल के राजा सुब्बा- सिंह उपनाम 'श्रीधर'

द्वारा संवत् १८७४ (मिश्र बधु विनोद के अनुसार संवत् १८८४)में इनके काव्य गुरु

६ सुवंश शुक्ल की सम्मति से रचा गया। इस ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद, चारों

दर्शन, सखी, इती, षट्क्रतु, रस निगन्ध, विभाव,

अनुभाव, भाव, शबलता, भाव उदय

इत्यादि विषय विस्तारपूर्वक कहे गये हैं। साथ ही ४४ कवियों की रचनायें उदाहरण स्वरूप दी गयी हैं।

४४ कवियों की सची:

सुवंश, कविन्द, रघुनाथ, तोष, ब्रह्मा, शुम्भ, शुम्भराज देव, श्रीपति, बनेी, कालिदास, कशे ाव, चिन्तामणि ठाकुर, देवकीनन्दन, पद्माकर, दूलह, बलदेव, सुन्दर संगं म, जवाहिर, शिवदास, मतिराम, सुलतान, सुखी

सुख

हठी, शिव, दास, परसाद, मोहन, निहाल, कविराज सुमेर, जुगराज, नन्दन, नेवाज, राम, परमेश, काशीराम रसखानि, मनसा, हरिकेश, गोपाल, लीलाधर,

(अपप) रागकल्पद्रुम- राग कल्पद्रुम संगीत शास्त्र का विशाल ग्रन्थ है। प्रारम्भ में संस्कृत के संगीत ग्रन्थों से शास्त्रीय उदाहरण दिये गये हैं। बाद में विभिन्न राग-रागिनियों में गाई जाने योग्य रचनाओं का संकलन है। ये रचनायें अधिकांश हिन्दी की हैं, यों तो इनमें प्रत्येक भारतीय भाषा के गीतों का कुछ न कुछ संकलन हुआ है। कृष्णानन्द व्यास देव ने इसकी रचना की है। ये जयपुर दरबार के विख्यात गायक थे। वृन्दावन के गोसाइयों ने इन्हें राग सागर की उपाधि दी थी। रागकल्पद्रुम को राग सागरोद्भव कहा गया है। जिसका प्रकाशन सन् १८४७ई० में माना जाता है।

७ यह ग्रन्थ चार खंडों में प्रकाशित हुआ है। इसमें संगीत शास्त्र के साथ ही

कृष्ण उपासक दो सौ से अधिक कवियों का परिचय दिया गया है। इसकी विशेषता

यह है कि इनमें हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में लिखे गये ग्रन्थों का उल्लेख है।

(अपपप) सरदार कवि कृत- शृंगार संग्रह- एक ग्रन्थ यह भी है, जिसका उल्लेख ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ में किया है। इसमें १२५ कवियों के उद्धरण हैं। इसका प्रकाशन सन् १८४८ में माना जाता है।

(पग) रस चन्द्रोदय- यह ग्रन्थ संवत् १९२० में ठाकुरप्रसाद त्रिपाठी कवि, द्वारा रचा गया। इसमें २४२ कवियों के नव रस के कवित्त है।

(ग) दिग्विजय भूषण- लाला गोकुल प्रसाद

बलरामपुरी उपनाम 'ब्रज' ने सवत् १९१९ में बलरामपुर, जिला गोड़ा के राजा दिग्विजय सिंह के नाम पर यह ग्रन्थ रचा है, साथ ही इसमें नायिका भेद-नख शिख और ऋतु वर्णन तथा विविध प्रौढोक्तियाँ भी सकं लित है। दिग्विजय भूषण में १९२ कवियों की रचनायें सकं लित है। इनकी सूची ग्रन्थारम्भ में दी गई है।

(गप) सुन्दरी तिलक- १९२६ विक्रम सवत् त् भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र सकं लित इस सगं.ह में केवल सवैये है। ये नायिका भेद के क्रम से है। अन्त में ऋतु वर्णन भी है।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में गासी द तासी का मत है कि इस ग्रन्थ के रचयिता पं० मन्नालाल द्विज हैं। तासी के अनुसार इसमें ४५ विभिन्न प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों के चुने हुए छन्द हैं। यह ग्रन्थ बाबू हरिश्चन्द्र के आश्रय में तथा उन्हीं के व्यय से बनारस से सवत् १९२५ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें कुल ५८ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में २२/२२ पक्तियाँ हैं। इस ग्रन्थ के मुख्य पृष्ठ पर सगं.ह में संकलित कवियों की यह सूची दी गई है।

बने ी देव, सुख देव मिश्र रघुनाथ, नृप शम्भु (द्विज देव)

रसखानि कवि शम्भु भिखारीदास सुन्दर आलाम मणिदवे

केशवदास, सरू दास (सरदार) ठाकुर, बोधा

बाबू हरीचन्द्र नवनिधि

अजबजे हरिकेश परमेस

छितिपाल, महाराजा अमेठी रघुराज सिंह

८ महाराजा मानसिंह तोष

मतिराम प्रेम नेवाज

हनुमान श्रीपति गंग ब्रह्म

बने ी प्रवीन

कालिका, सेवक मुबारक अलीमन घनानन्द

नरेन्द्र सिंह महाराजै पटियाला

मंडन देवकीनन्दन

महाकवि (कालिदास) गोकुल नाथ

गिरिधर दास (बाबू गोपाल चन्द्र) घनुषपाम

(घनश्याम किशोर)

हिन्दुई साहित्य का इतिहास-लक्ष्मी सागर

वार्षेय पृष्ठ-८९डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में सुन्दरी तिलक को भारतेन्दु की रचना माना है। और इसका रचना काल सवत् १९२६ दिया है। कवि सखं या ६९ दी गई है हो सकता है, यह उक्त सुन्दरी तिलक का द्वितीय परिवर्धित ससं करण हो।

(गपप) भाषा काव्य सगं.ह- पं० महेशदय ने यह सगं.ह सवत् १९३० में बनाया और नवल किशोर प्रेस लखनऊ से सवत् १९३२ में प्रकाशित कराया। शिवसिंहं सरोज के समान इसके भी आरम्भ में काव्य सगं.ह है और अंत में निर्मांकित ५१ सगं.हीत कवियों का जीवन-चरित्र है:-

महेशदय, तुलसीदास, मदन गोपाल, रायणदास
हुलाल राम, सहजराम, भगवतीदास, रत्न कवि
ब्रजवासीदास, सवलसिंह, नरोच्यम दास, नवलदास
गिरिधर राय, बिहारी लाल, अनन्य दास
रघुनाथ दास

मलूकदास, मोती लाल, कृपा राम, क्षेम करण
सीताराम, चरणदास, भिखारी दास, राम नाथ

प्रधान

अयोध्या प्रसाद वाजपेयी, शिव प्रसन्न
श्रीपति, पद्यमाकर, केशवदास, हिमाचल राम
रंगाचार, प्रियादास, मीरा, देवदय
बनौमाधव दास, वशं गीधर मिश्र, औध, मतिराम
रामसिंह, सरू दास, गिरिजादय, सुन्दरदास
नरहरि, रसखानि, लल्लू जी लाल, चन्दबरदाई
महाराज मानसिंह जानकीदास, शिवप्रसाद
गदाधर, हरिनाथ

विचित्रोपदेश- नक्छेदी तिवारी- सन् १८८७ ई०
में लिखा गया इसमें कुछे कवियों का काव्य सगं.ह है,
इस ग्रन्थ का उपयोग जार्ज गियर्सन ने किया है। यह शिव
सिंहं की परवर्ती रचना है।

कविरत्न माला नामक ग्रन्थ देवी प्रसाद द्वारा
सन् १९११ ई० राजस्थान के १०८ कवियों की कविता
उनके जीवन वृत्त के साथ सकं लित है।

(गअ) कविय रत्नाकर- इस सगं.ह के संकलयिता
है मातादीन मिश्र। यह दो भागों में सवत् १९३३ में नवल
किशोर प्रेस, लखनऊ में छपा। यह ग्रन्थ काशी की

कारमाइकेल लाइब्रेरी में उपलब्ध है। इसके दोनों भागों को मिलकर निम्नांकित ४२कवि हैं।

कादिर, कुन्ज गोपी, कृष्ण, केशवदास, खगनिया
गिरिधर कविराय, गुरुद्वय, घनश्याम, नरहरि
सुखदेव मिश्र, घाघ, चन्द बरदाई, छत्रसाल, जलील
विलग्रामी, तुलसीदास, तोष, देव, भीष्म, सरू, नरोचम
नारायण, परमार, जनकी प्रसाद सिंह, प्रवीण राय
वशं पीधर, बिहारी, ब्रह्मा, राम, रामरत्न भट्ट
भू पनाराया सिंह, भूषण, भोलानाथ, मतिराम
मलिकमुहम्मद, जायसी, महेश, यशवंत सिंह, रहीम
राम प्रसाद, श्यामलाल, शिव प्रसाद श्री लाल
सबल सिंह चौहान नरहरि,
सितारे हिन्द १०
हफिझुल्ला खाँ कृत-
हजारा (सन् १९१५) दो भागों में अनेक कवियों
के कवित्त और सवैयो का संग्रह है।

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त भी कुछ ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जैसे-

१. अधम लिखित सतं बानी संग्रह सवत् १९७२, लाला भगवान दिन सकं लित सूक्ति सरोवर सन् १९२२ ई० (ब्रजभाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयों पर सूक्तियाँ हैं।)

२. लाला सीताराम ने (सन् १९२१ ई०) में साहित्य के अनेक कवियों पर आलोचनात्मक ग्रन्थ 'सलवे शन फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर' नाम से संग्रहीत किया है। जिसमें क्रमशः कवियों के कवित्त का संग्रह, सतं की बानियों एवं जीवनी, ब्रज, भाषा के अनेक कवियों की पक्तियों एवं साहित्य के अनेक कवियों पर आलोचना एवं उनके काव्य संग्रहीत है।

उपर्युक्त काव्य-संग्रहों की विषय वस्तु से स्पष्ट है, कि इनमें अनेक कवियों की मूल्यवान कविताएँ हैं, जिनके आधार पर सम्बद्ध कवियों की साहित्यगत प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। इन ग्रन्थों से मध्ययुगीन एवं प्राचीन हिन्दी कवियों और उनके काव्यों के विषय में काफी महत्वपूर्ण एवं उपयोगी तथ्यों का पता चलता है।

स्रोत ग्रन्थ प्रकाशन सूची:-

प्राग्भिक स्रोत ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनके

बारे में हमें ज्ञात है कि वे कहाँ

से प्रकाशित हुए हैं -

स्रोत ग्रन्थ

दो सौ वैष्णवों की वार्ता

चौरासी वैष्णवों की वार्ता भक्तमाल

गोसाई चरित

ग्रन्थकार

गोकुलनाथ

गोकुलनाथ

नाभादास

भवानीदास

प्रकाशन/लेखन वर्ष

सवत् १६२५

सवत् १६२५

सन् १९०५

सन् १९६४

प्रकाशन स्थल

अशोक प्रिन्टरी, बड़ौदा, रावपुरा

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ

काशी के चन्द्र प्रभा प्रेस से मुद्रित

वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी

११

हजारा रागकल्पद्रुम

भाषा काव्य संग्रह कवित्तरत्नाकर काव्य-निगन्ध

कालिदास त्रिवेदी कृष्णानन्दव्यास

महेशदत्त मातादीनमिश्र भिखारीदास

सन् १९७८ ई० सन् १८७४ ई०

सवत् १९३० सवत् १९३३ सन् १९५६

स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद बंगिया साहित्य

परिषद्, कोलकाता

नवल किशोर प्रेस, लखनऊ नवल किशोर प्रेस,

लखनऊ कल्याणदास एण्ड ब्रदर ज्ञानवापी, वाराणसी

इसके अतिरिक्त कुछ स्रोत ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो

पहले उपलब्ध थे, जिनका प्रयोग

लेखकों ने किया है। लेकिन आज उनके विषय

में कोई जानकारी नहीं मिलती जिससे ज्ञात होता है कि

उन ग्रन्थों की प्राप्ति कहा से हो सकती जो अब तक

अप्राप्त, अप्रकाशित है, लेकिन महत्त्वपूर्ण है -
 ग्रन्थ भक्तनामावली कविमाला
 सत्कवि गिरी विलास कविनामावली विद्वन्मोद
 तरंगिणी शृंगार सङ्ग्रह दिग्विजय भूषण सुन्दरी तिलक
 विचित्रोपदेश कवि रत्नमाला हज़ारा राय चन्द्रोदय
 ग्रन्थकार ध्रुवदास तुलसी हरिराय बलदेव सद्
 न

राजा सुब्बा सिंह सरदार कवि
 लाल गोकुल प्रसाद बलरामपुरी भारतेन्दु बाबू
 हरिश्चन्द्र नक्छेदी तिवारी देवी प्रसाद हफिझुल्ला खॉ
 ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी
 लेखन वर्ष सवें त् १६९८ सवें त् १७१२ सवें त्
 १८०३ सवें त् १८१० सवें त् १८७४ सवें त् १९०५ सवें त्
 १९२५ सवें त् १९२६ सवें त् १९४४ सवें त् १९६८
 सवें त् १९७२ सवें त् १९२०

बाह्य साक्ष्य:- बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत प्राप्त
 सामग्री हमें चार रूपों में मिलती है।

१. साहित्यिक ग्रन्थ
२. प्राचीन ऐतिहासिक स्थान, शिलालेख,
 वंशावलियाँ व प्रमाणिक उल्लेख
३. जनश्रुतियों
४. विभिन्न युगों की आंतरिक व बाह्य
 परिस्थितियों की ज्ञापक सामग्री। साहित्यिक ग्रन्थ:- १२
१. टाइल कृत राजस्थान का इतिहास (सन् १८३२)
 इस इतिहास ग्रन्थ से हमें राजस्थानी

चारणों का परिचय मिलता है।

२. मानियर विलियम्स रचित- 'हिन्दू इज्म एण्ड
 ब्रह्मनिज्म' सन् (१८८३ ई०) में प्रकाशित इस पुस्तक में
 हिन्दू धर्म के सिद्धान्त व कवियों के विचारों की आलोचना
 कि गयी है।

३. बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु एवं हीरालाल
 संयुक्त कृत 'नागरी प्रचारणी सभा की खोज रिपोर्ट जिसमें
 अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय मिलता है।

(४) जी०एच०वेस्टकॉट 'कबीर एण्ड कबीर पंथ
 (सन् १९०७) कबीर के आदर्शों का स्पष्टीकरण एवं विवेचन
 किया गया है।

(५) मैकालिफ लिखित 'हिन्दी ऑफ दी

सिखरिलिजन (सन् १९०८) इस ग्रन्थ में सिख धर्म का
 आर्विभाव एवं हिन्दी कवियों का उल्लेख है।

(६) मैकनिकाल लिखित 'इण्डियनथीज्म' (सन्
 १९१५) हिन्दू दर्शन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण मिलता
 है।

(७) डॉ० टेसटरी लिखित 'ए डिस्क्रिपटीव केटलॉग
 ऑफ वार्डिक एण्ड हिस्टॉरिकल मेन्यूस्क्रिप्ट' (सन् १९१७)-
 राजस्थानी डिंगल काव्य ग्रन्थों का विवरण मिलता है।

(८) जार्ज फार्कूहार लिखित 'एन आउटलाईन
 ऑफ दी रिलीजस लिटरेचर ऑफ इंडिया (सन् १९२०)
 धार्मिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में कवियों पर आलोचना

(९) जार्ज वसेटन ब्रिग्स रचित 'गोरखनाथ एण्ड
 दी कनफटा योगीज' (सन् १९३८ ई०) ग्रन्थ में गोरखनाथ
 तथा नाथ सम्प्रदाय का दर्शन विवेचित है।

(१०) मोतीलाल रचित- राजस्थान में हिन्दी के
 हस्त लिखित ग्रन्थों की खोज (सन् १९२४ ई०) में
 राजस्थान के उनके ज्ञात और अज्ञात कवियों एवं लेखकों
 का परिचय मिलता है।

(२) प्राचीन ऐतिहासिक स्थान व शिलालेख:-
 शिलालेखों से साहित्येतिहास-लेखक के प्राचीन इतिहास
 का पता चलता है। शिलालेख प्राचीन इतिहास पर प्रकाश
 डालने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं, इसके अन्तर्गत
 शिला-लेखों, वंशावलियों तथा प्रमाणित उल्लेखों की गणना
 होती है। उदाहरणस्वरूप- १३

१. चन्देल के राजा यरमाल (परमार्दिदेव) कि
 समय के जैन- शिलालेख तथा आबू पर्वत के राजा जेत
 और शलख के शिलालेख तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश
 डालते हैं।

२. आदिकालीन गद्य साहित्य में रोडा लेखक
 द्वारा लिखी गयी रचना राउलवेल शिलांकित कृति है। यह
 गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू काव्य की प्राचीनतम हिन्दी कृति
 है। इतना ही नहीं, ऐतिहासिक स्थान भी साहित्येतिहास
 लखेान की सामग्री उपलब्ध कराते है।

जैसे- कबीर चौरा, असीघाट, कबीर-समाधि,
 बस्ती जिले में आमीनद का तट, जायसी की समाधि
 (अमेठी) तुलसीदास की प्रस्तर मूर्ति (राजापुर) सोरों में
 तुलसीदास के निवास स्थान का अवशेष तथा नरसिंह जी

का मन्दिर आदि।

(३) जनश्रुतियाँ उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों की जीवनियों और उनकी साधना

से सम्बद्ध अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित होती हैं। निःसन्देह जनश्रुतियाँ विशेष प्रामाणिक

नहीं होती किन्तु उनमें सत्य की ओर सकेत अवश्य मिल जाते हैं। जनश्रुतियाँ शताब्दियों से जन जिह्वा की सवारी करती आ रही होती है अतः इनमें अतिरंजना का योग होता है।

(४) विभिन्न युगों की परिस्थितियों की बोधक सामग्री में विभिन्न युगों के इतिहास आदि ग्रन्थ आते हैं। विभिन्न युगों की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों का बोध कराने वाले अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनसे भी इतिहास-लेखन में सहायता ली जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

१. शर्मा, रामकुमार (१९५८): हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, नेशनल प्रेस, प्रयाग।

२. शर्मा, नलिन विलोचन (२०१६): साहित्य का इतिहास दर्शन, राष्ट्रभाषा परिषद् बिहार।

३. त्रिपाठी, विश्वनाथ (२०१०): हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन।

१४

४. नाभादास (१९०५): भक्तमाल, चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी।

५. गुप्त, किशोरीलाल (१९७८): हजारा, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद।

६. ई.एच.कार. (१९७६): इतिहास क्या है, प्रगति प्रिंटर दिल्ली।

७. त्रिपाठी, रामनरेश (१९७५): कविता कौमुदी, साहित्य भवन, प्रयाग।

८. दास, श्यामसुन्दर (१९१४): हिन्दी कोविद रत्नमाला, इंडियन प्रेस, प्रयाग।

९. बाबू, गुलाबराय (१९४७): हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, साहित्य प्रेस, आगरा। १०. बोरा, राजकमल (१९८७): इतिहास और परम्परा, श्याम प्रकाशन, जयपुर।

११. व्यास, कृष्णानन्द (१९१४): रागकल्पद्रुम,

बगिया साहित्य परिषद्, कोलकाता।

१२. भिखारीदास (१९५६): काव्य निगन्ध, कल्याणदास एण्ड ब्रदर, ज्ञानवापी वाराणसी।

१३. शुक्ल, रामचन्द्र (२०१७): हिन्दी साहित्य का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

१४. शर्मा, शिवकुमार (२००३): हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली।

१५. गुप्त, किशोरीलाल (१९७८): हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास, वि. भू. प्रकाशन ज्ञानी बाडर, साहिबाबाद।

१६. डॉ. नगेन्द्र (२०१४): हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।

१७. गुप्त, गणपति (१९९९): हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

हिंदी सिनेमा में राष्ट्रीय चेतना का बदलता स्वरूप

अजय सिंह रावत

शोधार्थी, हिंदी अध्ययन केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
गुजरात केंद्रीय विश्वविद्यालय, गाँधीनगर, गुजरात, भारत
फोन नं. ८०७६०३४७९०

शोध सार

भारतीय सिनेमा की पहली फिल्म १९१३ में 'राजा हरिश्चंद्र' थी यह भारतीय सिनेमा का पहला कदम था 'दादा साहब फाल्के' को इस फिल्म को बनाने का श्रेय जाता है १९३१ में पहली सवाक् फिल्म 'आलमआरा' बनी यह फिल्म भारतीय सिनेमा में भावों, विचारों के संप्रेषण के लिए महत्वपूर्ण है भाषा के होने से संप्रेषण संक्षिप्त और सटीकता की ओर अग्रसर होता है डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'भाषा उच्चारणों से उच्चरित (अध्ययन-विश्लेषणीय) यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं' १ हिंदी सिनेमा ने पिछले ७० सालों में कई बेहतरीन फिल्में दी हैं आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं कि 'प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है।' २ फिल्म जगत भी इससे अछूता नहीं है हिंदी सिनेमा ने भी तत्कालीन समाज की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक घटनाओं का अनुकरण किया है सिनेमा में पूँजी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है दर्शक क्या देखना चाहता है और क्या नहीं? यह चयन करना फिल्म निर्माताओं के लिए जरूरी हो जाता है फिल्मों का अपना आर्थिक बाजार है राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित फिल्में भी बाजार से स्वयं को मुक्त नहीं रख पाती हैं फिर भी राष्ट्र को अपने गंभीर

नायकों को याद रखने, उनके बारे में जानने के लिए सिनेमा एक अच्छा साधन हो सकता है

राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय चेतना

राष्ट्रवाद को शब्दों में बांधना आसान नहीं है डॉ. सुभाष महाले लिखते हैं 'देश भक्ति का उद्वेलन कभी समर्पण तो कभी आंदोलन का रूप धारण कर लेता है, जिससे व्यक्ति के स्वत्व से लेकर राष्ट्र तथा देश की स्वतंत्रता और समानता की सुरक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण तक के भाव समाविष्ट होते हैं।' ३ राष्ट्र के प्रति लोगों के यह भावना ही राष्ट्रवाद कहलाती है हर राष्ट्र का एक इतिहास होता है अपना संघर्ष होता है यह संघर्ष उस देश में रह रहे लोगों का भी होता है इसी कारण आम आदमी भी इस भावना से खुद को जोड़ पाता है यही गौरवपूर्ण अनुभूति राष्ट्रीयता का बीज है राष्ट्र के अंदर भाषाई, जातिगत, भौगोलिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि विविधताएँ भी होती हैं परंतु जब राष्ट्रीयता की बात आती है तो सभी लोग स्वयं को इस भावना से एकजुट हुआ पाते हैं हिंदी फिल्मों में राष्ट्रीय चेतना के रूप में देशभक्ति का भाव, शौर्य और देश के लिए बलिदान की भावना देखने को मिलती है जैसे 'द गाजी अटैक' १९७१ में हुए भारत-पकिस्तान युद्ध और बांग्लादेश की मुक्ति के ठीक पहले की अलिखित घटना है फिल्म भारतीय

नौसेना पोत (घट) के पनडुब्बी ए२१ की फिल्म में पानी के अंदर सैनिकों के बलिदान और राष्ट्र की जल सीमाओं की रक्षा के लिए संघर्ष का चित्रण है

बीज शब्द- राष्ट्रवाद, भारतीय राष्ट्रवाद, चरित्र, हिंदी फिल्म, हिंदी सिनेमा, हिंदी, फिल्मी गीत

हिंदी फिल्मों तथा फिल्मी गीतों में राष्ट्रीय भावना 'राष्ट्रीयता से प्रेरित अधिकतर फिल्मों में चरित्र का आख्यान महत्वपूर्ण होता है' जीवन और जगत में पाए जाने वाले व्यक्तियों का साहित्य में काल्पनिक प्रस्तुतिकरण चरित्र-चित्रण कहा जाता है चरित्र ऐतिहासिक-पौराणिक भी हो सकते हैं और भौतिक जगत के भी हो सकते हैं किंतु साहित्य में उनका पुनः सृजन किया जाता है यह बात साहित्य पर जितनी लागू होती है उतनी ही सिनेमा पर भी

'जब वी. शांताराम ने १९३३ में महाभारत के एक पात्र कीचक के द्वारा राजा विराट के राजमहल में दासी के रूप में अज्ञातवास बिताने वाली द्रौपदी के अपमान की कथा लेकर फिल्म 'सैरंध्री'(दासी) बनाई तो शासकों को यह भ्रांति हुई कि कहीं कीचक के अत्याचारों के बहाने ब्रिटिश सरकार के द्वारा निरीह भारतीय प्रजा पर किए जाने वाले अत्याचारों को तो नहीं दिखाया गया है सवाक् फिल्मों के इस पहले दौर में 'नवभारत' (१९३४), 'वीर भारत' (१९३४) तथा 'जयभारत' (१९३६) जैसे शीर्षकों वाली फिल्में बनी, जिसमें देशभक्ति के स्वर मुखर हुए थे १९३६ में बॉम्बे टाकिज ने 'जन्मभूमि' नायक फिल्म बनाई, जिसके गीत देशभक्ति तथा राष्ट्रप्रेम के भावों से परिपूर्ण थे इसमें मुख्य भूमिकाएँ अशोक कुमार तथा देविका रानी की थीं

'१९४० में बनी लोकप्रिय फिल्म 'बंधन' का गीत 'चल चल रे नौजवान' आजादी के संघर्षमयी डगर पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता थी रुकना तेरा काम नहीं, चलना तेरी शान' जैसी पंक्ति के लेखक प्रदीप राष्ट्र प्रेम से ओतप्रोत गीतों की रचना करने वाले

कवियों की अग्रिम पंक्ति में थे

१९४१ में बॉम्बे टाकिज ने 'नया संसार' नामक एक फिल्म बनाई इसमें हरिजनों के उत्थान के लिए किये गए महात्मा गांधी के प्रयत्नों को दिखलाया गया था इसमें एक नृत्यगीत को उस काल की प्रसिद्ध नर्तकी अजूरी ने पेश किया, जिसमें दलित वर्ग की बालिका के मनोभावों को कवि प्रदीप ने शब्द दिए थे नायक अशोक कुमार तथा नायिका रेणुका देवी ने एक अन्य गीत गाया, जिसमें स्वतंत्र देश का स्वप्न देखा गया था-

'एक नया संसार बसा लें, एक नया संसार/ ऐसा एक संसार कि जिसमें धरती हो आजाद/ कि जिसमें जीवन हो आजाद/ कि जिसमें भारत हो आजाद/ जनता का हो राज जगत में जनता की सरकार/ जागे देश की गली-गली में नवयुग का त्योहार/ एक नया संसार बसा लें' फिल्म मात्र दृश्य पटल पर चलने वाली आकृति नहीं होती उसमें देश के स्वप्नों, आदर्श का भी प्रस्तुतिकरण हो जाता है लोगों की संवेदनाओं को किस तरह से पटल पर दिखाना है यह सिनेमा अच्छी तरह जानता है सहृदयता फिल्म का महत्वपूर्ण अंग है

१९५७ में बनी 'मदर इंडिया' के पहले दृश्य में ही गीत बजता है 'धरती माता हम जीवन भर तेरे ही गुण गायेंगे' उसी दौर में आई फिल्म 'नया दौर' में नायक दिलीप कुमार सड़क बनाने के कार्य में 'साथी हाथ

बढ़ाना/ एक अकेला थक जाएगा, मिलकर बोझ उठाना' इन दोनों फिल्मों में ही नेहरूयुगीन नये भारत के निर्माण का 'युटोपिया' था

फिल्म संप्रेषण की दृष्टि से भी उत्कृष्ट साधन है सिनेमा व्यक्ति और समाज के बीच समाजीकरण की प्रक्रिया को बढ़ाता है लोगों को सामूहिक विचारों, विश्वासों से जोड़ता है कई बार तो व्यक्ति सिनेमा का अनुकरण जीवन में भी करने लगता है इस समय की कई फिल्में नये भारत में देशप्रेम और

राष्ट्रवाद का पूरा जोश लिए हुए थी विकास के स्वप्न और गरीब-अमीर के सौहार्द और सह-अस्तित्व की परिकल्पना इन फिल्मों में दिखलाई पड़ता है। 'छोड़ो कल की बातें/कल की बात पुरानी/नाए दौर में लिक्खेंगे हम मिलकर नयी कहानी' (हम हिंदुस्तानी, १९६०), 'मेरा जूता है जापानी/ये पतलून इंगलिस्तानी/सर पे लाल टोपी रुसी/फिर भी दिल है हिंदुस्तानी' (श्री ४२०, १९५५), 'हम उस देश के वासी हैं/जिस देश में गंगा बहती है' (जिस देश में गंगा बहती है, १९६०), 'ऐ मेरे प्यारे वतन/ऐ मेरे बिछुड़े चमन' (काबुलीवाला, १९६१), 'अपनी आजादी को हम हरगिज मिटा सकते नहीं' (लीडर, १९६३), 'जागृति (१९६४) में तीन गीत 'आओ बच्चों तुम्हें दिखाएं', 'हम लाए हैं तूफान से कश्ती निकाल के' और 'दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना ढाल', इसी दौर में आयी राजकपूर की 'बूट पालिश' (१९५४) आई जिसमें गीत था 'नन्हें मुन्ने बच्चे तेरी मुट्टी में क्या है/मुट्टी में है तकदीर हमारी' समाजिक मुद्दों पर बना सिनेमा राष्ट्र के लोगों को जागरूक करता है उन्हें देश की वास्तविक समस्याओं को समझने में मदद करता है सिनेमा मनोविज्ञान को भी साधारण शब्दों में जन तक पहुँचा देता है इससे राष्ट्र को आदर्श नागरिक की प्राप्ति होती है सिनेमा समाज के लिए भी बन सकता है और एक व्यक्ति की समस्या और उत्सव पर भी देवानंद ने (हम दोनों, १९६१) में नायक का किरदार निभाया दुखों को बिसरा कर आजाद होने के उत्सव में वे गाते हैं-'मैं हर फिक्र को धुएं में उड़ाता चला गया' राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता को असल जिंदगी में हुए युद्ध और प्रासंगिक बना देते हैं 'हकीकत' (१९६४) फिल्म ने भारत-चीन युद्ध के चित्रण किया और यहाँ से राष्ट्रवाद की भावना सिनेमा में बदल गयी 'कर चले हम फिदा जानोतन साथियों', 'ऐ मेरे वतन के लोगों' जैसे गाने लोगों की जुबां पर चढ़ गए यहाँ से सिनेमा के लिए सरहदों की रक्षा ही राष्ट्रवाद बन गया इसी सन्दर्भ में 'बॉर्डर', 'गदर' जैसी फिल्में

आर्यो कुछ फिल्मों इस दौर में भी अपवाद रही जैसे भगत सिंह और मंगल पांडेय की जीवनी पर बनी फिल्म

राष्ट्रीय चेतना सी भरी फिल्में राष्ट्रीय प्रतीकों, खेलों, नायकों को हमेशा खुद से जोड़ लेती हैं 'क्रिकेट के जुनून के दौर में राष्ट्रवाद को इस औपनिवेशिक खेल के जरिए भी प्रतिष्ठित किया गया, उदाहरण में आमिर खान की फिल्म 'लगान' है २००४ में आशुतोष गोवारीकर ने 'स्वदेश' में समकालीन व्यवस्था, समस्याओं को उठाने का प्रयत्न किया ७

हिंदी भाषा और सिनेमा का संबंध

किसी राष्ट्र की चेतना में वहाँ की भाषा भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है भाषा भी राष्ट्र की एकता के लिए संघर्ष करती है हमारे साहित्य, दर्शन, धर्म और कला में भारतीयता की भावना ओत-प्रोत रही है और इसी आधार पर देश के विभिन्न भागों में बसनेवाले एकता का अनुभव करते हैं ८

भारत की राजभाषा हिंदी है यह वैश्विक स्तर पर भारत का प्रतिनिधित्व करती है एचदटीद कोलब्रुक ने एशियाटिक रिसर्च में लिखा - 'जिस भाषा का व्यवहार भारत के प्रत्येक प्रान्त के लोग करते हैं, जो पढ़े लिखे तथा अनपढ़ दोनों की साधारण बोलचाल की भाषा है जिसकी प्रत्येक गाँव में थोड़े बहुत लोग अवश्य समझ लेते हैं; उसी का यथार्थ नाम हिंदी है' ९

भारतीय सिनेमा अन्य कलाओं की तरह देश के विचारों, गौरवगान को अपने में समाहित करता है भाषा भी इसमें एक बड़ा माध्यम है प्रत्येक सभ्यता, प्रत्येक संस्कृति अपने-आप में पूर्ण होती है उसके सभी अंश, उसके सभी पहलू एक दूसरे पर अवलंबित और सब-के-सब किसी एक केंद्र से संलग्न होते हैं संस्कृतियाँ जब बदलती हैं तब खान-पान, रहन-सहन, पोशाक और परिच्छेद भले ही बदल जाएँ, किंतु उनका मन नहीं बदलता, सोचने की पद्धति उनकी नहीं बदलती और जीवन को देखने वाला

दृष्टिकोण उनका एक ही रहता है विशेषतः भारत जैसे प्राचीन देश को यदि कोई दबाकर उसे अमेरिका या यूरोप बनाना चाहेगा तो इस दवाब का परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा^{१०}

हिंदी सिनेमा ने अपना विस्तार विदेशों तक कर लिया है अमिताभ बच्चन, रेखा, आमिर खान, शाहरुख खान, ऐश्वर्या राय, सलमान खान जैसे फिल्मी सितारों की फिल्मों को विदेशों में भी देखा जाता है एक पक्ष यह भी है कि इससे भारत की राष्ट्रीय चेतना, सम्प्रभुता, देश के मूड का पता इन फिल्मों से चल जाता है

निष्कर्ष

हिंदी सिनेमा में राष्ट्रीय चेतना के संदर्भ अनेक हैं किंतु राष्ट्रवाद का स्वरूप हमेशा देश के समाजशास्त्र की परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है युद्ध के समय और अन्य देशों के साथ सीमा के तनाव, अन्य तनाव में लोगों में राष्ट्र के प्रति समर्पण, राष्ट्रीय चेतना बढ़ जाती है वर्तमान में देखें तो धर्मा प्रोडक्शन की 'शेरशाह', और अक्षय कुमार की 'बेलबाटम' 'हॉलिडे', 'बेबी', 'एयरलिफ्ट', 'केसरी' और 'मिशन मंगल' आदि फिल्मों के संवादों में चटकीलापन डाल दिया गया है तथा गानों में रोमानियत का इस्तेमाल किया गया है आज हिंदी सिनेमा में राष्ट्रवाद के आयाम सीमित हो चुके हैं आज 'रोटी, कपड़ा, मकान', राष्ट्रवाद की श्रेणी में फिट नहीं बैठ पाता

संदर्भ

१. तिवारी, डॉ. भोलानाथ, 'भाषा-विज्ञान', १८८४, किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ-४
२. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', (२००८), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ-२९
३. महाले, डॉ. सुभाष, 'माखनलाल चतुर्वेदी और वि. दा. सावरकर की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना', (१९९७), चंद्रलोक प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ-२५
४. सिंह, बच्चन, 'आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज

शब्द', संस्करण २०१८, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-४२

५. भारतीय, भवानीलाल, 'बॉलीवुडनामा', २०११, प्रभात प्रकाशन, पृष्ठ-१८८

६. भारतीय, भवानीलाल, 'बॉलीवुडनामा', २०११, प्रभात प्रकाशन, पृष्ठ-१८९

७. डबराल, मंगलेश, 'बदल गया है हिंदी सिनेमा का राष्ट्रवाद', navjivanindia.com

८. शर्मा, देवेन्द्र नाथ, 'राष्ट्रभाषा हिंदी समस्याएँ और समाधान', पृष्ठ-१३

९. बाहरी, हरदेव, 'हिंदी भाषा', पृष्ठ-१५५

१०. सिंह 'दिनकर', रामधारी, 'संस्कृति के चार अध्याय', पृष्ठ-६३५

साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंधों का आख्यान है 'सतह से उठता आदमी' कुलदीप कुमार

शोधार्थी
सरदार पटेल विश्वविद्यालय,
गुजरात

वैश्वीकरण व भूमंडलीकरण के दौर में शिक्षण और मनोरंजन के लिए साहित्य और सिनेमा अलग-अलग दो ऐसी विधाएँ हैं, जो मनुष्य के क्रिया व्यापार और जीवन-शैली को भिन्न-भिन्न माध्यमों से प्रस्तुत करने का प्रयास करती हैं। जहाँ सिनेमा साहित्य को मूर्त यथार्थ रूप प्रदान करने का माध्यम है वहीं साहित्य कल्पना और सृजनात्मकता के आधार पर मानव समाज की छवि प्रस्तुत करने का माध्यम। यह ऐतिहासिक सत्य है कि साहित्य हमेशा से सिनेमा का अभिन्न अंग रहा है, किंतु दोनों का अंतरंग संबंध होते हुए भी दोनों अलग-अलग माध्यम हैं। साहित्य में जहाँ लेखक सर्वशक्तिमान होता है वही सिनेमा में उसकी भूमिका रचनात्मक सहयोगी की होती है। सिनेमा के लिए साहित्य पटकथा के रूप में काम करता है।

सिनेमा को वैश्विक स्तर पर देखा जाए तो दुनिया की पहली फिल्म फोटोग्राफी की सामग्री बेचने वाले दो भाइयों 'आगस्ट और लुई-लुमियर' ने बनाई थी जिसे इन्होंने दिसंबर १८९५ को फ्रांस की राजधानी पेरिस के एक रेस्तरां ग्रैंडकैफे में प्रदर्शित किया। भारत में भी सिनेमा की शुरुआत इन्हीं लुमियर बंधुओं ने जुलाई १८९६ को की। जिसे इन्होंने मुंबई के एक होटल में छः(६) फिल्मों की श्रृंखला दिखाई। भारत में पर्दे पर दिखाई जाने वाली यह पहली फिल्म मानी जाती है। १९०१ई० के आसपास भारत में भी इस क्षेत्र में प्रयास प्रारंभ हो गए जो लगभग १०-१२ वर्षों के अथक प्रयासों द्वारा मई १९१३ को सार्थक सिद्ध हुए, जब 'घुंडीराज दादा फाल्के' (दादा साहब फाल्के) ने अपने द्वारा निर्मित फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' (३ मई १९१३) का प्रदर्शन किया। इस फिल्म को मुंबई के 'कोटेनेशन

थिएटर' में दिखाया गया। भारत में किसी भारतीय द्वारा निर्मित यह पहली मूक फिल्म थी।

ऐसा माना जाता है साहित्य समाज का मुकम्मल आईना होता है और इस आईने में दिखाई देने वाले समाज को सिनेमा अपने रुपहले पर्दे पर उकेरता है। साहित्य को सिनेमा द्वारा इस रुपहले पर्दे पर उकेरने की प्रक्रिया को ही साहित्य का सिनेमाई रूपांतरण कहा जाता है।

साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई पाठ की बात की जाए तो इसकी शुरुआत मूक सिनेमा के दौर से ही हो चुकी थी। धार्मिक पौराणिक आख्यान को छोड़ दें तो साहित्यिक कृति पर बनने वाली पहली फिल्म नरेश मित्र के निर्देशन में देवदास थी, जो बांग्ला साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार शरदचंद के उपन्यास देवदास का सिनेमाई रूपांतरण थी। किंतु हिंदी सिनेमा साहित्य की ओर उस समय उन्मुख हुआ जब १९३१ में 'आर्देशिर ईरानी' के निर्देशन में 'आलमआरा' का सफल प्रदर्शन हुआ, जो भारत की पहली सवाक फिल्म मानी जाती है। यद्यपि जिस समय सिनेमा आम जन-जीवन में दस्तक दे रहा था उस समय साहित्य में प्रगतिशील विषयों व विचारों का दौर था। साहित्यकार समाजवादी और पूँजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त करने के लिए अपनी लेखनी के माध्यम से आंदोलनरत थे। वे मजदूर, किसान, दलित और उपेक्षित जन को मुख्यधारा में लाने के लिए जद्दोजहद कर रहे थे, जिसमें सिनेमा ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका सिनेमा अदा की। अर्थात साहित्य और सिनेमा शीघ्र ही आम आदमी के जीवन का दर्पण बन गए।

प्रारंभिक दौर में हिंदी साहित्यिक कृतियाँ भारतीय सिनेमा से दूर रहीं, किंतु यह दूरी ज्यादा दिनों तक नहीं रही आलमआरा के आने के महज़ २ वर्ष बाद ही हिंदी के महान कथा-शिल्पी 'प्रेमचंद' अपनी साहित्यिक कृतियों के साथ सिनेमा जगत में पदार्पण करते हैं। यहीं से हिंदी सिनेमा और साहित्य के करीब आने की शुरुआत होती है। यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई पाठ की शुरुआत प्रेमचंद की कहानियों से आरंभ होता है। सर्वप्रथम 'अजंता मूवीटोन' के निर्देशक 'मोहन भावनानी' के निर्देशन में प्रेमचंद की कहानी 'मिल मजदूर' का सिने-रूपांतरण 'मजदूर' नाम से किया जाता है। प्रेमचंद की यह कहानी पूर्व लिखित या प्रकाशित नहीं थी बल्कि फ़िल्म के लिए ही विशेष तौर पर लिखी गयी थी। किंतु वे कोई बँधुआ लेखक नहीं थे जिस कारण वे ज्यादा दिनों तक सिनेमा जगत में टिक नहीं सके। प्रेमचंद की मृत्यु के पश्चात इन के लगभग इनके संपूर्ण उपन्यासों व कहानियों का सिनेमाई रूपांतरण होता है।

आज़ादी के बाद साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई पाठ का स्वर्ण युग प्रारंभ होता है। यह वह दौर था जब साहित्य और सिनेमा एक साथ आम-जन को प्रभावित करते हैं। बांग्ला साहित्यकार 'विभूतिनारायण बंदोपाध्याय' की कृति 'पथेर पांचाली' (सत्यजीत राय) से लेकर हिंदी साहित्यकार 'काशीनाथ सिंह' के 'काशी का अस्सी' (चंद्रप्रकाश द्विवेदी) तक साहित्यिक कृतियों की एक लंबी सूची है जिनका सिनेमाई रूपांतरण हुआ है। इनके साथ ही समानांतर सिनेमा के दौर में अनेक निर्देशकों ने हिंदी साहित्यिक कृतियों पर बेहतर सिनेमा देने के प्रयास में अपनी अभिरुचि व समझ से अच्छी फिल्मों का निर्माण किया है। इसमें मुक्तिबोध की कृति 'सतह से उठता आदमी' जिस पर फिल्म निर्देशक मणिकौल ने १९८१ में इसी नाम से फिल्म निर्देशित कर मुक्तिबोध के संपूर्ण साहित्य को रुपहले पर्दे पर उतार दिया।

सतह से उठता आदमी के फिल्मांकन में फिल्म निर्देशक 'मणिकौल' ने मुक्तिबोध की कविता, कहानी, डायरी का अद्भुत इस्तेमाल करते हुए १९८१ में इसी नाम से (सतह से उठता आदमी) फिल्म बनाते हैं। यह फिल्म इन्होंने 'इनफ़ाकीनो फिल्म प्रोडक्शन' द्वारा 'मध्य प्रदेश कला परिषद' के लिए निर्मित की। वस्तुतः मुक्तिबोध के लेखन

पर फिल्म ऐसे वातावरण की मांग करती है, जो बौद्धिक हो! विचार मूलक हो! इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए मणिकौल ने इनके मध्यवर्गीय त्रास पर विचार किया है, जिसमें इनकी कविताओं और कहानियों के माध्यम से निम्न मध्यवर्गीय लेखक के अपने परिवेश की सतह से उठने के प्रयास और उसकी लगभग अपरिहार्य विफलता पर जो चिंतन संभव किया है वह दुनिया की किसी और फिल्म में नहीं है।

संदर्भित फिल्म 'सतह से उठता आदमी' अपने चरित्रों के अभ्यंतर यानि मनुष्य तत्व की ओर जाकर पहले उस प्रकृति की ओर मुड़ती है जिससे मुक्तिबोध बार-बार तादात्म्य स्थापित किया होगा, मूक संवाद स्थापित किया होगा, आत्म साक्षात्कार के क्षण कायम किए होंगे। मुक्तिबोध की संवेदना को निम्न संवाद से स्पष्ट किया जा सकता है... 'मुझे लगता है मन एक रहस्य लोक है, उसमें अंधेरा है, अंधेरे में सीढ़ियाँ हैं, सबसे निचली सीढ़ी पानी में डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। इस अथाह काले जल से स्वयं को ही डर लगता है। इस अथाह जल में कोई बैठा है। शायद वह मैं ही हूँ।' इस संवाद से पहले फिल्म मुक्तिबोध इतिहास बोध का परिचय देती है जो इनकी कहानी में भी दृष्टव है... 'मुझे लगता है भूमि के गर्भ में कोई प्राचीन सरोवर है, उसके किनारे पर डरावने घाट, आतंकवादी मूर्तियाँ और रहस्यपूर्ण गर्भकक्षों वाले पुराने मंदिर। इतिहास ने इन सबको दबा दिया है। मिट्टी की तह पर तह चट्टानों पर चट्टानें छा गयीं हैं। सारा दृश्य भूमि में पड़ गया है और... और इन्हीं बगलों में रहने लगा है मेरा मित्र केशव, जिसने शायद पिछले जन्म इसी गर्भस्थ सरोवर का जल पिया होगा! वहाँ विचरण किया होगा।' मुक्तिबोध के साहित्य का यह महत्वपूर्ण भाग है जो छूट जाता तो शायद फिल्म को भारी क्षति पहुँचती।

फिल्म के नायकों का चरित्र-चित्रण भी मुक्तिबोध के कथानुरूप है। प्रधान पात्र वही हैं जो मुक्तिबोध के कहानी के हैं। प्रधान चरित्रों में रमेश, केशव और माधव तथा गौण पात्रों में रामस्वरूप, तिवारी, रामनारायण व श्यामला हैं। यह पात्र आधार सामग्री के रूप में किसी कहानी या निबंध के चरित्र नहीं रह जाते रुपहले पर्दे पर सांकेतिक अभिव्यक्ति का माध्यम जितने रमेश और माधव बने हैं उतना केशव नहीं। किंतु सांकेतिक संदर्भ में केशव जहाँ आता है वहाँ उसकी अपनी पहचान कायम रहती है। रमेश,

केशव व माधव जागरूक पुरुष हैं, विचारक हैं, प्रतिबद्ध हैं, समाज के प्रति इसीलिए उनकी निजी परिस्थितियाँ उन पर हावी नहीं हैं। कहानी और फिल्म दोनों माध्यमों से इसके गौण पात्र तिवारी का आत्मविरोध व उसकी छद्म में बुद्धिजीवी, रामनारायण और उसका घंटा बने कृष्णस्वरूप व उस जैसे युवकों का उद्देश्य किस तरह स्खलित होता है स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। फिल्मकार केशव, माधव और खास तौर से रमेश के जीवन की घटनाओं, प्रसंगों को व्यक्तिगत नहीं रहने देता। वह बार-बार हमारा ध्यान उनकी ओर से समाज की ओर ले जाता है। मुक्तिबोध की दिनचर्या सहित हम रमेश में मुक्तिबोध की छाया देखते हैं।

संदर्भित फिल्म की इसी भाषा में मुसलमान चरित्र के रूप में आए एक व्यक्ति के बारे में फिल्म के आलेख में द्रष्टव्य है- 'एक बुजुर्ग और बेकसूर, चेहरा भोला, चेहरे पर सफेद रेशमी दाढ़ी, सिर पर काली टोपी, टोपी के बाहर झूलते काले बाल, सफेद कुर्ती और कंधे पर चार खाने का रुमाल! यह मौलवी है।' सतह से उठता आदमी फिल्म के इसी छाया क्रम में सैयद होटल का भी जिक्र आता है, जिसके माध्यम से मुक्तिबोध और मणिकौल दोनों स्पष्ट करते हैं कि 'असुरक्षा की आशंका ने मुसलमानों को न जाने कितने स्तरों में बाँट रखा।'।

मुक्तिबोध की 'कला के तीन क्षण' की अवधारणा को भी मणिकौल फिल्म में वैसे ही आरंभ करते हैं जैसे दो मित्रों के बीच कोई साधारण सी बात कभी भी आरंभ हो सकती है और यह बात रमेश और केशव के बीच खाना खाते वक्त आरंभ होती है, जब रमेश कहता है मेरे ख्याल से महत्वपूर्ण बात यह है कि 'कला के तीन क्षण, होते हैं- 'पहला क्षण जीवन का उत्कट अनुभव, दूसरा क्षण अनुभव का अपने कसकते दुखते मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो फैंटेसी अभी आँखों के सामने खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस शब्द बध्य होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्ण अवस्था तक की गतिमयता।'

अंततः कह सकते हैं कि सतह से उठता आदमी फिल्म का जैसा कथ्य है वैसे ही कैथार्सिस है। वैचारिक स्तर का इसमें तीसरा क्षण, एक लंबी कविता का लेख अंधेरे में, एक चौड़े टीले पर (कविताएँ) ज़िदगी की कतरन, पक्षी और दीमक, सतह से उठता आदमी और

चाबुक एक ही प्रवाह में आ गए हैं। मणिकौल ने फिल्म को शब्दों के दृश्याकरण से हटाकर गूढ़तम विचारों और अनुभूतियों का माध्यम बनाने के प्रयास में महत्वपूर्ण सफलता हासिल की है।

संदर्भ-

१. मुक्तिबोध, गजानन माधव. (२०१४). सतह से उठता आदमी : नई दिल्ली. भारतीय ज्ञानपीठ
२. कुमार, हरीश. सिनेमा और साहित्य : नई दिल्ली. संजय प्रकाशन.
३. पारिख, जवरीमल्ल. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र : नई दिल्ली. श्याम बिहारी राय ग्रंथ शिल्पी.
४. मृत्युंजय. हिंदी सिनेमा का सच : कलकत्ता. समकालीन सृजन.
५. बिसरिया, पुनीत. हिंदी सिनेमा का सफरनामा : नई दिल्ली. एटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर.
६. सहगल, डॉ० राजेन्द्र. सिनेमा वक्त के आइने में : नई दिल्ली. संजय प्रकाशन.
७. श्रीवास्तव, संजीव. हिंदी सिनेमा का इतिहास : नई दिल्ली. प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय
८. मंडलोई, लीलाधर. (जनवरी-२०१७). नया ज्ञानोदय. नई दिल्ली.
९. यादव, राजेन्द्र (फरवरी- २०१३). हंस : नई दिल्ली अक्षर प्रकाशन.
१०. सिंह, कुसुमलता. (जनवरी-२०१७). परिदे : नई दिल्ली. परिदे प्रकाशन.

(रचनाकार युवा कवि एवं स्वतंत्र लेखक हैं)

एम. ए. इलाहाबाद विश्वविद्यालय, एमफिल- महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा
शोधार्थी- सरदार पटेल विश्वविद्यालय, गुजरात
संपादित कृति- चयनित हिंदी कहानियाँ (हंस प्रकाशन, दिल्ली)
कविता संग्रह - भीड़तंत्र का रामराज्य (प्रकाशाधीन)
संपर्क - ९१५१२७५३९९
ईमेल- kumarkaas94@gmail.com
आवासीय पता - ६, यूनिवर्सिटी स्टॉप कालोनी, वल्लभ विद्यानगर, आणंद, गुजरात, ३८८१२०

ग्रामोत्थान के संदर्भ में सुझाव : शिवपूजन सहाय

राजेश्वरी मौर्य

हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज

शिवपूजन सहाय ने गाँवों को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। गाँवों के विषय में इनका विचार है कि- 'गाँव ही हमारे राष्ट्र की रीढ़ हैं। वही हमारे अन्नदाता हैं। किसान और मजदूर वहीं रहते हैं। हमारे पशुधन का खजाना भी वहीं है। हमारा अन्न और दूध-घी का भंडार तो वह है ही, कपड़े बनाने के सब सामान भी हम वहीं से पाते हैं। सुख के सारे सामान हमें वहीं से मिलते हैं। शहरों में और बड़े-बड़े कारखानों में हमारे काम की जितनी चीजें तैयार होती हैं, सबके लिए कच्चा माल वहीं से आता है।' (शिवपूजन - रचनावली, खंड-२, पृ. -७५) शिवपूजन सहाय गाँव को एक परिवार मानते हैं। वे गाँवों के सर्वांगीण विकास के लिए आपसी भाईचारा को आवश्यक मानते हैं। गाँवों के पड़ोसियों में जो आपस में मेल जोल होता है वह देखने लायक होता है। गाँवों की स्थिति में सुधार के लिए देखते हुए वे शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक माना है।

शिवपूजन सहाय ने 'ग्राम सुधार' और 'अन्नपूर्णा का मन्दिर' नामक पुस्तक में गाँवों के विकास के लिए अनेक लेख लिखे। उन्होंने गाँव की समस्याओं को अपने लेख के माध्यम से उजागर कर सरकार का ध्यान गाँवों की मूल समस्याओं की ओर लाने का प्रयास किया है। आगे गाँवों के सुधार के लिए कुछ उपाय भी सुझाए। उन्होंने गाँव के लोगों को भी अपनी स्थिति में सुधार करने के लिए स्वयं भी प्रयास करने को कहा। उनका मानना था की गाँवों के विकास के लिए मूलभूत आवश्यकताओं के साथ कुछ

पारंपरिक धाराओं में परिवर्तन कर गाँव के जीवन को सरल और सुखमय बनाने का प्रयास करना होगा। इसके लिए गाँव के लोगों को शिक्षित और जागरूक करने की आवश्यकता है।

'ग्राम सुधार' पुस्तक में संगृहीत निबंधों में गाँवों की स्थिति में सुधार के लिए शिवपूजन सहाय ने सरकार द्वारा गाँवों के लिए मूलभूत आवश्यकताओं यथा- आवागमन सुचारू बनाने के लिए अच्छी सड़कें, स्वच्छ जल के लिए कुओं का पुनरुद्धार करने, मकानों की मरम्मत करवाने, गाँवों का वातावरण शुद्ध रखने के लिए बाग बगीचे लगाना, जंगलों की कटाई पर रोक, खेतों की चकबंदी करवाना, पशुपालन को व्यवसाय के रूप में अपनाने के लिए गाँव के लोगों को प्रेरित करना, पशुओं के चारे के लिए गोचरण भूमि की व्यवस्था करने और गोचरण भूमि सरकार द्वारा कानून बनाने का सुझाव दिया, पशुओं के पानी के लिए तलाव-पोखर का प्रबंध करने का सुझाव दिया।

आगे उन्होंने पशुओं से प्राप्त गोबर से खाद बनाने, उसे ईंधन के रूप में प्रयोग करने का सुझाव दिया। साथ ही लोगों को स्वास्थ्य के प्रति सचेत करते हुए यह सलाह दी कि गोबर की खाद बनाने के लिए यह ध्यान रखना परम आवश्यक है कि गोबर का संग्रह जिस स्थान पर हो वह स्थान मानव बस्ती से दूर हो ताकी उसमें पनपने वाले मक्खी - मच्छर गाँव के वातावरण को दूषित कर बीमारियां न फैला सकें। आगे उन्होंने खाद बनाने के अन्य विकल्पों

को अपनाने का सुझाव दिया मछली की खाद, घर के कूड़े कचरे से खाद बनाना ।

सहाय जी ने सरकार को गांव के लोगों को जागरूक करने की सलाह दी - 'सरकार की ओर से खाद के बारे में पर्चे छपवा कर गांव में बांटे जाएं और गांव वालों को ऐसे तरीके बतलाए जाएं, जिनसे वे हानि से बचकर लाभ उठा सकें । उन्हें ऐसे तरीके ना बतलाए जाएं जिन्हें वे आसानी से बना सकें। '(शिवपूजन -रचनावली, द्वितीय- खंड, हिंदी राष्ट्रभाषा परिषद पटना पृष्ठ -१०२)

'गांवों में स्कूल' नामक निबंध में शिवपूजन सहाय ने कई महत्वपूर्ण पहलुओं में सुधार की सलाह दी है। उनका मानना था कि गांव के लोगों को शिक्षा का महत्व समझाने और उन्हें जागरूक करने की आवश्यकता है। इसके साथ ही जिन गांवों में स्कूल नहीं है वहां पर स्कूल खुलवाना और किसानों की मजदूरी करने वाले बच्चों के लिए रात्रि - पाठशाला का प्रबंध करने की बात कही है। गरीब बच्चों को मुफ्त शिक्षा के साथ-साथ उन्हें पुस्तकें और जलपान का भी प्रबंध करने का सुझाव दिया है। सरकार के अलावा गांव के धनी लोगों, ग्राम पंचायतों और ग्राम सभाओं को भी गरीब बच्चों की शिक्षा का खर्च उठाना उनका नैतिक दायित्व बताया। उनका मानना था कि शिक्षा में आर्थिक मदद करना धार्मिक कार्यों में खर्च करने से कहीं अधिक पुण्य का काम होता है- ' गांव के लोग हर साल धर्म और परलोक के नाम पर बहुत से पैसे खर्च कर डालते हैं। धर्म या पुण्य के लिए अब और परलोक सुधारने के लिए जितने काम गांवों में होते हैं उनमें अधिकतर अंधविश्वासों के कारण ही होते हैं। गांव के लोगों के मन में यह बात बैठाने या जांचने की जरूरत है कि मंदिर और मस्जिद बनाने से बढ़कर स्कूल और अस्पताल बनाने में अधिक पुण्य है।लोगों को यह समझना चाहिए कि स्कूल, अस्पताल, अनाथालय, विधवा आश्रम, गोशाला आदि खोलने से जो पुण्य कमाया जा सकता है, वह तीर्थ यात्रा से नहीं। '(शिवपूजन रचनावली, दूसरा- खंड, राष्ट्रभाषा परिषद पटना,पृ. १०२)

गांव के लोगों को पूजा-पाठ, मंदिर, मस्जिद पर खर्च करने के बजाय अपने धन का मही उपयोग विद्यादान में करना चाहिए जिससे हमारा राष्ट्र खुशहाल और समृद्ध बनेगा। आगे उन्होंने शिक्षकों के कम वेतन की ओर

सरकार और समाज के लोगों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है। वे चाहते हैं कि शिक्षकों को कम से कम इतनी राशि तो मिलनी ही चाहिए जिससे वे एक सामान्य जीवन आसानी से जी सकें - 'हम बच्चों को एक राष्ट्र की भांति पूंजी समझकर शिक्षकों के जिम्मे लगाते हैं तब हमारा यह कर्तव्य है कि शिक्षकों के सुख-दुख का ख्याल रखें उन्हें भरपूर वेतन देकर निश्चित कर दें। '(शिवपूजन रचनावली, दूसरा खंड, बिहार -राष्ट्रभाषा परिषद पृ. १०४)

इसी क्रम में आगे उन्होंने स्कूल के पाठ्यक्रम में हेर-फेर की आवश्यकता जाहिर की है। और पढ़ाने के तरीकों में भी परिवर्तन की बात कही है। बच्चों के संपूर्ण विकास के लिए उनका शारीरिक और मानसिक दोनों स्तर से समृद्ध होना आवश्यक है, जिससे वे सभ्य देश के बालक बन सकें। उन्होंने खेलकूद, कसरत, कुश्ती, नाटक मनोरंजन, बाद- विवाद आदि को भी पाठ्यक्रम का विषय बना ने की सलाह दी है। गांवों में पुस्तकालय खुलवाने की आवश्यकता पर जोर दिया है, लड़कियों के लिए भी स्कूल बनवाने के पक्ष में थे, उन्होंने लड़कियों के लिए अलग से कन्या विद्यालय खुलवाने की बात कही। उनका मानना था कि लड़कियों की पढ़ाई लड़कों से दूसरे ढंग की होनी चाहिए इसी ध्यान से उनके लिए अलग स्कूल खुलवाये जाने का सुझाव दिया।

'अन्नपूर्णा के मंदिर' में लेख संग्रह में भी शिवपूजन सहाय ने गांवों की स्थिति सुधारने के लिए सरकार द्वारा उचित कदम उठाकर गांवों की स्थिति को बेहतर बनाने के लिए कुछ सुझाव दिए हैं इसमें स्वतंत्रता के पूर्व और स्वतंत्रता के बाद के भारत का चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है साथ ही स्वतंत्रता के पश्चात देश देश की स्थिति को बेहतर बनाने के लिए गांवों में व्याप्त समस्याओं के निवारण का सुझाव दिया है आगे इस लेख में उन्होंने स्वतंत्रता मिलने के कुछ वर्षों पश्चात भी गांवों देश के लोगों के विचारों में बदलाव होने ना होने पर भी प्रश्न करते हैं। 'देश की स्वतंत्रता हुए कई साल हो गए कितने समय में हमने देश की भलाई के कितने काम किए इस पर प्रत्येक देशवासी को गंभीरता से विचार करना चाहिए यही प्रत्येक देशवासी का मुख्य काम है इसी पर हमारी सफलता और महत्ता निर्भर है।'

(शिवपूजन - रचनावली, द्वितीय- खंड, हिंदी राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ- १९०)

आगे उन्होंने शासन प्रशासन में भागीदार सदस्यों पदाधिकारियों के मनमाने और गैर जिम्मेदाराना रवैए पर सवाल किया है और आजादी के संघर्ष के महत्व को न समझकर उसे मात्र जन की तरह मनाये जाने पर वे स्वतन्त्रता संघर्ष के सही मायने बताते हुए लिखते हैं- 'शहरों में म्युनिसिपालिटी के सदस्य और पदाधिकारी रहते हैं उन्होंने अपने नगर के नव निर्माण के लिए कौन सा काम किया है? स्वतंत्र भारत के नागरिकों की बस्ती साफ-सुथरी होनी चाहिए। क्या नगरों की सफाई का पहले की अपेक्षा कोई नया प्रबंध हुआ है?...क्या नागरिकों की स्वास्थ्य रक्षा या स्वास्थ्य बुद्धि की कोई नई व्यवस्था की गई है?...अनावश्यक प्रश्नों के सही सही उत्तर दे लेने के बाद ही हम अपने स्वतंत्रता दिवस के उत्सव में उत्साह प्रदर्शित करने के सच्चे अधिकारी सिद्ध होंगे नहीं तो ऊ एवं नकली होगा।' (शिवपूजन- रचनावली, द्वितीय- खंड, हिंदी राष्ट्रभाषा परिषद पटना, पृष्ठ- १९०)

'गांव की अनिवार्य आवश्यकता' लेख में लेखक सरकार के चुनाव के समय: किए जा रहे खोखले वादों की पोल खोलते हैं। शिवपूजन सहाय सरकार द्वारा कागजी स्तर पर गांव के उद्धार के लिए किए जा रहे कार्यों की अप्रासंगिकता पर प्रकाश डालते हैं। क्योंकि ये ठेठ देहात से तालुक रखते हैं इसलिए वे भावों की जमीनी हकीकत से परिचित थे। वे जानते थे कि कोई भी व्यक्ति जब तक गांवों में जाकर वहां की समस्याओं का मुआयना नहीं करता, वह गांव की समस्याओं को कभी भी जान नहीं पाएगा क्योंकि हर गांव की अपनी भिन्न समस्याएं हैं कहीं सड़कों की समस्या है, कहीं स्वास्थ्य स्वच्छ जल कि, कहीं पानी निकासी की कहीं अस्पताल की, कहीं स्कूल की, कहीं बाड़ की कहीं मुखे की कहीं भुखमरी की और कहीं शिक्षा की आदि ऐसी अनेक समस्याएं थी। इसलिए मात्रा आकड़े संग्रहित कर वा मात्र कुछ लोगों की राय लेकर योजना बनाना और गांवों की मूल समस्याओं को जाने बिना सारे देश में लागू कर देना मात्र, भारत देश को कभी भी समृद्धि की ओर नहीं ले जा सकता, इसलिए वे गांवों की मूलभूत आवश्यकताओं को रेखांकित करते हैं और योजना बनाने वाले पदाधिकारियों को कुछ दिन गांव में रहकर उनकी

समस्याओं और आवश्यकताओं को समझने की सलाह देते हैं- 'ग्राम समस्याओं का निराकरण केवल मस्तिष्क बलिया बुद्धि बल से नहीं हो सकता उसके लिए वास्तविक प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता है या अनुभव दूर से नहीं हो सकता लिखित विवरण और आंकड़ों से भी नहीं पूछता किया जांच पड़ताल और दौरा करने से भी नहीं कारण विभिन्न प्रांतों के गांवों के विभिन्न समस्याएं हैं।... जब तक उनकी पूर्ति के प्रयत्न ना होंगे गांव की दुर्दशा बनी रहेगी और पूर्ति तभी होगी जब कामों में कुछ दिन रहकर

वहां की आवश्यकताएं समझ ली जाएंगी। (शिवपूजन -रचनावली, द्वितीय- खंड, हिंदी राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ -१९२)

गांव की अनिवार्य आवश्यकताओं को गिनाते हुए उन्होंने गांव की पहली अनिवार्य आवश्यकता शिक्षा प्रचार-प्रसार और स्कूल पाठशालाओं की है। शिक्षा के अभाव में किसी भी व्यक्ति का बौद्धिक विकास संभव नहीं। जब तक किसी देश का नागरिक बौद्धिक और मानसिक स्तर पर समृद्ध नहीं होगा, तब तक एक स्वतंत्र और समृद्ध राष्ट्र की कामना करना कल्पना मात्र है। शिवपूजन सहाय देश के युवा वर्ग के चारित्रिक विकास के लिए शिक्षा को सबसे अनिवार्य मानते हैं। देश के प्रत्येक बच्चे को चाहे वह जिस भी धर्म, जाति या लिंग का हो उसका शिक्षित होना परम् आवश्यक है, क्योंकि वह जानते थे कि यदि गांव के लोग शिक्षित होंगे तो अपने दुख के मूल कारणों को जान सकेंगे। कोई भी मात्र झूठे वादे करके, बड़े-बड़े भाषण देकर उन्हें लुभा नहीं सकेगा, अपने अच्छे बुरे का निणय वह स्वयं ले सकेंगे.' नेताओं के दौरे और भाषणों तथा अखबारों से जनता में जागृति होती भी है, तो शिक्षा प्रचार के अभाव से टिकने नहीं पाती इसलिए सबसे बढ़कर आवश्यकता गांवों में शिक्षा प्रचार की ही है।' (शिवपूजन-रचनावली, द्वितीय- खंड, हिंदी राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृष्ठ -१९३)

गांव की दूसरी महत्वपूर्ण आवश्यकता यातायात को बताया है यदि गांव में आवागमन का माध्यम अच्छी सड़कें होंगी तो गांव के लोगों तक सुख सुविधाएं आसानी से पहुंच सकेंगे। गांव के लोगों के साथ सरकार द्वारा किए जा रहे भेदभाव को रेखांकित करते हुए शिवपूजन सहाय ने

लिखा है' गांव की दुर्दशा सड़कों की खराबी से बहुत सोचने हो गई है। युद्धोत्तर युग के कार्यक्रम में सड़कों के पुनर्निर्माण की बड़ी मधुर मधुर योजनाएं सुन पड़ती हैं, पर अब आगे गांव को अब भी कोई आशा नहीं है, पर अभागे गांव को अब भी कोई आशा नहीं है, क्योंकि शहरों और कस्बों का पेट भर जाने के बाद ही गांव की ओर कुछ टुकड़े फेंक दिए जाएंगे। गांव का यही विश्वास है।' (शिवपूजन - रचनावली, द्वितीय- खंड, हिंदी राष्ट्रभाषा परिषद पटना, पृष्ठ - १९४)

गांव की तीसरी महत्वपूर्ण आवश्यकता जलाशय और स्वच्छता की है गांव के लोग जागरूकता के अभाव में स्वच्छता के महत्व को नहीं समझते, वे जलाशयों के आसपास कुओम की जगत के आसपास जमा हो रहे कूड़े-कचरे की ओर ध्यान नहीं देते यही गंदगी अक्सर गांव में भयंकर महामारी का कारण बनती थी, जिसकी गिरफ्त में आ कर कभी-कभी तो गांव के गांव साफ हो जाते थे। शिवपूजन सहाय का मानना था कि गांव के संभ्रांत लोगों, समाज सुधारकों, और सरकार द्वारा लोगों को स्वच्छता के प्रति जागरूक करने की आवश्यकता है। साथ ही गांव के कुओं और जलाशयों के जल को शुद्ध करने के लिए सरकार द्वारा कदम उठाए जाने की आवश्यकता है।

चौथी आवश्यकता चिकित्सा की है शहर के आसपास स्थित ग्रामों को छोड़ दिया जाए तो देश के लगभग ८०% गांव ऐसे थे जहां चिकित्सा सुविधा का नामोनिशान नहीं था। चिकित्सा के अभाव में गांव के लोग खियां पशुओं सभी की स्थिति काफी दयनीय थी अधिकतर गांव तो दवा दारू की सुविधा के बिना तब आ रहा करते हैं।... मनुष्यों की दशा तो जानवरों से भी गई बीती है खासकर खियों की दशा तो और भी खराब है स्त्रियों के लिए गांवों में मातृ मंदिर इत्यादि कहीं नहीं है प्रस्तुतियों और बच्चों की अकाल मृत्यु से गांवों के कितने ही घर उजड़ गए पर आज मात्र जाति के इस दुख की ओर किसी का ध्यान ना गया।' (शिवपूजन -रचनावली, द्वितीय- अध्याय, पृ. १९५)

लेखक समाज के धनी लोगों सरकार म्युनिसिपालिटी वालों को उनका कर्तव्य याद दिलाते हुए व्यंगात्मक लहजे में कहते हैं - ' शहरों में धनी मानी दानी लोग या म्युनिसिपालिटी या सरकार चाहे जो प्रबंध करते हो पर गांव वालों के प्रति किसी की सहानुभूति प्रत्यक्ष नहीं दिख

पड़ती है।' (शिवपूजन- रचनावली, द्वितीय -अध्याय,पृ. १९५)

गांव की पांचवी महत्वपूर्ण आवश्यकता बाढ़ और महामारी जैसी प्राकृतिक आपदाओं से गांवों की सुरक्षा के लिए स्थाई व्यवस्था करना है। इन समस्याओं में निपटने के लिए सरकार द्वारा मात्र कागजी कर्तवाही ही की जा रही है। कोई दूरदर्शी नीति न होने के कारण ग्रसित गांवों की स्थिति सोचनीय है। आपदा से ग्रसित गांवों का चित्रण करते हुए लेखक ने लिखा है कितने ही गांवों का अस्तित्व ही मिट गया और अनेक गांवों के बहुत से परिवार दिन दुखी लोग भाग्य को खुश रहे हैं। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए योजनाओं की घोषणा का दौरा गत संगीत स्वर सुनकर ही संतोष कर लेना पड़ता है।' (शिवपूजन रचनावली. द्वितीय अध्याय, पृ. १९६)

छठी आवश्यकता गांव के खेतों की चकबंदी कर बिखरे खेतों को एक जगह करने की आवश्यकता है, ताकि किसान सुचारू रूप से खेत खेती कर सकें इसके अलावा पशुओं के लिए गोचर भूमि की व्यवस्था करने की आवश्यकता है। शिवपूजन सहाय का मानना था कि यदि सरकार द्वारा गांवों की इन मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने की दिशा में सार्थक कदम उठाए जाएं तो गांव का उद्धार निश्चित रूप से हो पाएगा।

स्पष्टता: कहा जा सकता है कि शिवपूजन सहाय का संपूर्ण जीवन हिंदी साहित्य और समाज की सेवा में समर्पित रहा। वे आजीवन भारतीय समाज को जागरूक करने, राष्ट्र को समृद्ध करने की दिशा में सक्रिय रहे और समाज को प्रगति की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करते रहे। उनका संपूर्ण साहित्य लेखन और जीवन हिंदी साहित्य और समाज की अमूल्य धरोहर है।

स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति: 'ध्रुवस्वामिनी' एवं 'चित्रांगदा'

पूजा प्रसाद

शोधार्थी, हिंदी विभाग
प्रसीडेंसी विश्वविद्यालय
कोलकाता

जयशंकर प्रसाद और रवीन्द्रनाथ अपने नाटकों की विविधता के सौन्दर्य से पाठकों को आकर्षित करते रहें हैं। एक तरफ प्रसाद जहाँ नाटकों की आधार भूमि ऐतिहासिक एवं पौराणिक तथ्यों में ढूँढते हैं वहीं रवीन्द्रनाथ भी पौराणिक तथ्यों पर नया नाट्य प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। आधुनिक नारी की सर्वांगपूर्ण चित्रण करने में निपुण दोनों ही रचनाकार अपने तत्कालीन समय की समस्याओं को अभिव्यक्त करने से चूकते नहीं हैं। प्रसाद अपनी अंतिम नाट्य रचना 'ध्रुवस्वामिनी' में विवाह संस्था में एक नारी की अस्मिता पर संकट एवं उससे उबरने के लिए तलाक एवं पुनर्विवाह को सही ठहराते हैं एवं स्त्री की स्वतंत्रता को महत्व देते हैं, वहीं दूसरी तरफ रवीन्द्रनाथ नारी के कृत्रिम सौन्दर्य के आवरण को महत्व न देकर आंतरिक सौन्दर्य की बात करते हैं। प्रकृति या सृष्टि की रचना में सुंदर और असुंदर के भेद को 'चित्रांगदा' के माध्यम से तर्कों द्वारा स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है एवं स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकृति मिली है।

जयशंकर प्रसाद के नाटक भारतीय इतिहास के हिन्दी नाट्य साहित्य में एक नया अध्याय जोड़ते हैं। प्रसाद अपने पूर्व की नाट्य परंपरा जिसमें नाटकों को भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम माना जाता था तथा जो पुरानी परिपाटी पर ही चली आ रही थी उससे इतर अपने समय को परिभाषित करने के लिए अतीत को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ध्रुवस्वामिनी में उन्होंने काव्यजनोचित भावुकता, संवादों की जटिलता के स्थान पर यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है।

ध्रुवस्वामिनी (१९३३ ई०) प्रसाद जी का अन्तिम नाटक है

और उनके पूरे नाटक-साहित्य में एकदम अलग भी, जो उनकी ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा को एक नया मोड़ देती है। अपने जीवन्त संवादों और कसी हुई कथावस्तु के कारण यह नाटक प्रसाद के क्रांतिकारी दृष्टिकोण को ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से प्रकट करता है। नारी केवल नर की आधिकारिक वस्तु, अनुगामिता एवं क्रीत दासी नहीं है बल्कि उसकी एक स्वतंत्र पहचान है और भारतीय समाज में पुरुष यदि नपुंसक, व्यभिचारी और कायर है तो नारी उसके विरुद्ध विद्रोह भी कर सकती है। प्रसादजी ने ध्रुवस्वामिनी के रूप में उसी विद्रोहिणी नारी को चित्रित किया है जो साहस के साथ अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करती है। मूलतः इस नाटक में ध्रुवस्वामिनी व्यवस्था में रहकर कैसे अपने स्वाभिमान एवं अस्मिता को बचाने में सक्षम होती है और समाज के लिए कैसे मूल्यों की प्रतिष्ठापना करती है यह दिखाने का प्रयत्न प्रसाद करते हैं। यथार्थ की स्वस्थ और तीव्र छवि के साथ 'ध्रुवस्वामिनी' सम्पूर्ण भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के बीच प्रगतिशील मूल्यों की संघर्ष-चेतना को रेखांकित करता है और धर्म, समाज, राजनीति, इतिहास, युगबोध सबको चुनौती देते उस जनविद्रोह और नारी-अस्मिता के संकट और उस संकट से मोक्ष को रेखांकित करता है जो आज प्रगतिवादी विचारधारा का मुख्य आधार है।^१

नारी को अपने अधिकारों से वंचित रखने का इतिहास शताब्दियों पुराना है। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों ने उसकी अवस्था में परिवर्तन करते-करते दयनीयता के धरातल पर ला खड़ा कर दिया है, ऐसे में अगर कोई नारी अपनी स्थिति के प्रति असंतोष न व्यक्त करे तो वह खुद अपनी दयनीय स्थिति

की जिम्मेवार है। महादेवी वर्मा लिखती हैं कि ' कोमल तूल-सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अंत में कठिन जान पड़ने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओं को समझा और उन्हीं को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। '२ प्रसाद इतिहास का सहारा लेकर अपने समय की युगीन परिस्थितियों, समाज में नारी की दयनीय स्थिति, विवाह संस्थान पर प्रश्न-चिन्ह लगाते हुए स्त्री अस्मिता की बात करते हैं एवं अपने स्वाभिमान के साथ समाज की दमित कुप्रथाओं को खंडित करने का प्रयास भी करते हैं।

ध्रुवस्वामिनी की इच्छा के विरुद्ध उसे पिता द्वारा उपहार-स्वरूप गुप्त साम्राज्य की कुलवधू बनाया गया और उसके समस्त जीवन की बागडोर एक कायर, क्लीव, और व्यभिचारी राजा रामगुप्त के हाथों में सौंप दी गई जो पुरुष प्रधान व्यवस्था में एक नारी के असंतोष एवं पीड़ा को रेखांकित करता है। ध्रुवस्वामिनी के गृहस्थ जीवन का प्रारंभ ही असंतुष्ट दाम्पत्य और नारी विवशता से होता है। 'सीधा तना हुआ, अपने प्रमुख की साकार कठोरता का अग्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इनके चरण में लोटना ही चाहिए न। '३ निरीह वस्तु की तरह एक स्त्री का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। प्राण एवं संवेदना होते हुए भी ये समाज नारी को वस्तुवत जीवन जीने के लिए बाध्य करता है। ध्रुवस्वामिनी उस पूरी व्यवस्था की तानाशाही, क्लीवता, पराधीनता, कूटनीति तथा छलना को स्वीकृति नहीं देती है बल्कि वह व्यवस्था के प्रति विद्रोह करती है। शकराज रामगुप्त की विलासपूर्ण जीवन शैली से परिचित हैं और वह गुप्त साम्राज्य से अपने पुरखों के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए एक प्रस्ताव रामगुप्त के पास भेजता है कि यदि वह अपने राज्य की सुरक्षा चाहता है तो उसके लिए उपहार-स्वरूप अपनी महारानी ध्रुवस्वामिनी और हमारे सभी श्रीमंतों के लिए स्त्रियां भेज दे। रामगुप्त शकराज की बढ़ती शक्ति से पहले ही भयभीत है। इसलिए अपने मंत्री शिखरस्वामी की मंत्रणा के बाद राज्य के हित को ध्यान में रखकर महारानी ध्रुवस्वामिनी और शकराज के सभी श्रीमंतों के लिए अपनी स्त्रियां भेजने के लिए तैयार हो जाता है।

ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त के इस प्रस्ताव को सुनकर अपनी आधुनिक दृष्टि का परिचय देती है और कहती हैं - ' कुछ नहीं, मैं केवल यही कहना चाहती हूँ कि पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-संपत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल-मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा

सकते तो मुझे बेच भी नहीं सकते हो। '४ ध्रुवस्वामिनी अपने अधिकारों एवं निष्पत्ति लेने की स्वतंत्रता से परिचित भी हैं वह सवाल भी करती हैं कि ' मेरे पिता ने उपहार-स्वरूप कन्यादान किया था। किन्तु गुप्त सम्राट क्या अपनी पत्नी शत्रु को उपहार में देंगे? '५ वह रामगुप्त से अपने स्त्रीत्व की रक्षा की याचना करती हैं और उसे सचेत भी करती हैं कि राज्य और संपत्ति के बल पर पुरुष को बहुत-सी रानियाँ एवं स्त्रियों का साहचर्य मिल सकता है लेकिन व्यक्ति का अगर मान नष्ट हो जाए तो दोबारा नहीं मिलता। किन्तु रामगुप्त द्वारा ठुकराए जाने पर अपने स्वाभिमान एवं अस्मिता को बचाने का एक मात्र विकल्प विद्रोह ही रह जाता है वह कहती भी हैं - ' मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल-मणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी। '६

प्रसाद अपने समय की मध्यवर्गीय मानसिकता से भली भांति परिचित थे इसलिए वो बार बार व्यक्ति-सम्मान की रक्षा को विशेष महत्त्व देते हैं। ध्रुवस्वामिनी की व्यक्तिगत जीवन की समस्याएं सामाजिक जीवन की समस्याएं बन गई हैं। विचारों में आधुनिक एवं विद्रोही होने के बाद भी वह भाग्य के हाथों सामने को मजबूर होती हैं क्योंकि मर्यादा रूपी संस्कार उसके पैर की बेड़ियाँ बन जाता है लेकिन वह उसे स्वीकृति नहीं देती है बल्कि स्वयं से सवाल भी करती हैं कि 'जीवन के लिए कृतज्ञ, उपकृत और आभारी होकर किसी के अभिमानपूर्ण आत्म-विज्ञापन का भार ढोती रहूँ -यही क्या विधाता का निष्पत्ति विधान है? जीवन नियति के कठोर आदेश पर चलेगा ही? तो क्या यह मेरा जीवन भी अपना नहीं है? '७ पराधीनता की परंपरा ने युगों युगों से नारी की चेतना को आहत किया है वह सब जानते हुए भी सामाजिक व्यवस्था के हाथों अपनी अस्मिता, स्वतंत्रता, इच्छा, प्रेम को पाने में असमर्थ दिखाई पड़ती है। सत्येन्द्र कुमार तनेजा के शब्दों में कहें तो ' ध्रुवस्वामिनी के दाम्पत्य जीवन में पारस्परिक स्नेह और सम्मान के स्थान पर अवहेलना और अपमान है। जीवन-स्थितियाँ उसे कटु और तीखा बना रही हैं। अपने विचारों में वह बहुत स्पष्ट और आधुनिक है पर समाज में ऐसा कोई विधान नहीं है जो उसकी व्यक्ति-अस्मिता को स्वीकारे या पहचाने। अपने संस्कारों के कारण वह अपने नैसर्गिक प्रेम को भी अपराध भाव से देखने लगती हैं '८ प्रसाद विवाह संस्था को भारतीय परिप्रेक्ष्य में सही मानते हैं इसलिए वह विवाह की परम्परागत व्यवस्था की जटिलताओं में उलझ कर उसे तोड़ नहीं पाते हैं। लेकिन वही विवाह जब नारी की मुक्ति में बाधा उत्पन्न करे एवं उसके लिए वह त्रासदी का रूप

धारण कर ले तो वह उससे मुक्ति पर भी बल देते हैं । शकराज के युद्ध में मृत्यु के पश्चात ध्रुवस्वामिनी विवाहेतर संबंध एवं विवाह मुक्ति के द्वन्द्व में उलझी हुई दिखाई पड़ती है । वह चंद्रगुप्त का वरण कर सकती है, किंतु उसे अपने प्रेम के झुकाव के प्रति गहरा संदेह होता है । वह मंदाकिनी से कहती है 'दुर्ग की विजय मेरी सफलता है या मेरा दुर्भाग्य, इसे मैं नहीं समझ सकी हूँ । राजा से मैं सामना करना नहीं चाहती । पृथ्वीतल से जैसे एक साकार घृणा निकल कर मुझे अपने पीछे लौटने का संकेत कर रही है, क्यों, क्या यह मेरे मन का कलुष है? क्या मैं मानसिक पाप कर रही हूँ?'^{१९} ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त का पुनर्लिंग प्रसाद की प्रगति? शीलता है क्योंकि? पौरुष के बल पर स्त्री को दासी माननेवाले रामगुप्त की मृत्यु के बाद वह अपनी इच्छान से चंद्रगुप्त? का वरण करती है । ध्रुवस्वामिनी समाज के समक्ष उन सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना करती है जो नारी को अपने जीवन पर पूरा अधिकार दे और पुरुष अगर गौरव से नष्ट एवं आचरण से पतित हो तो स्त्री के लिए वह योग्य नहीं है। वह स्वतंत्र है अपना लिए निणय लेने के लिए । आधुनिक भारतीय नारी की प्रमुख विशेषता है कि अब उसने व्यवस्था से प्रश्न करना सीख लिया है ।

जिन शास्त्रों एवं पुराणों ने सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक मूल्यों के निर्वहन के लिए नारी को उत्तरदायी बनाया लेकिन समाज में उसको एक सम्मानजनक स्थान दिलाने में वह क्यों अपने कर्तव्य का निर्वहन नहीं कर सका । ध्रुवस्वामिनी उन सामाजिक कर्मकांडों एवं शास्त्रों की सत्यता पर भी सवाल खड़ा करती है जो सदैव से नारी की दयनीय दुर्दशा का साक्षी रहा है । ध्रुवस्वामिनी अपने स्वाभिमान के साथ रामगुप्त की सहधर्मिणी बनने से इनकार कर देती है और इसका निणय वह धर्म पर छोड़ देती है और कहती भी है कि 'आज यह निणय हो जाना चाहिये कि मैं कौन हूँ ।' ^{१०} अपने स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकृति देती ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त को अपने पति के रूप में चुनती है । पुरोहित धर्म शास्त्र से प्रमाण लाकर ध्रुवस्वामिनी को नपुंसक, कलुषित, क्लृप्त, पतित रामगुप्त से मोक्ष की आज्ञा देते हैं ।

रवीन्द्रनाथ की सुप्रसिद्ध नाट्य-कृति 'चित्रांगदा' (१८९२ ई.) महाभारत की कथा के एक प्रकरण पर आधारित है, जिसमें महाभारत में वर्णित मणिपुर की राजकुमारी चित्रांगदा तथा अर्जुन की कथा संक्षेप में कही गई है । मूलतः यह नाटक एक आधुनिक नारी के विचारों एवं तर्कों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है । 'युवा रवीन्द्रनाथ ने इस कृति में पार्थिव या

नश्वर देह सौन्दर्य को अनश्वर या स्वर्गिक सौन्दर्य के आलोक में रखा है और इस द्वन्द्व या विमर्श को सर्जनात्मक आयाम प्रदान किया है । महाभारत के एक आख्यान से प्रेरित इसकी कथावस्तु में कृतिकार ने आधुनिक मन की उस अवधारणा को स्पष्ट किया है कि प्रकृति या सृष्टि की रचना में सुंदर क्या है और असुंदर क्या है ? '११ रवीन्द्रनाथ का आधुनिक नारी के संबंध में ये मानना है कि एक सुंदर स्त्री अगर ये अनुभव करे कि वह अपने यौवन के सौन्दर्य से अपने प्रेमी का हृदय जीत सकती है तो वह अपने सौन्दर्य को अपने सौभाग्य का ही अंश मानकर इसे एक अभियोग के तौर धिक्कार भी सकती है । कृति की भूमिका में रवीन्द्रनाथ का आवेदन द्रष्टव्य है और स्त्री सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं- 'यह तो उसकी बाह्य-वस्तु है, यह तो उसे ऋतुराज वसंत से प्राप्त हुआ है -क्षणिक मोह विस्तार द्वारा जैव उद्देश्य की सिद्धि के लिए । अगर उसके अंतर में यथार्थ चरित्र-बल हो तो फिर उस मोहमुक्त शक्ति के दान से उसके प्रेमी को भी बहुत लाभ मिलेगा जो उसके दाम्पत्य जीवन की जय यात्रा में सहायक होगा । क्योंकि यह दान ही आत्मा का स्थायी परिचय है, इसकी परिणति में न तो कृति है, न अवसाद और न दैनंदिन जीवन के धूलिलप्रलेप से इसकी उज्वलता में कोई मालिन्य ।' ^{१२} वस्तुतः चित्रांगदा के माध्यम से स्त्री -पुरुष की जैविक सृष्टि और परस्पर आकर्षण को दैहिक धरातल की कसौटी पर न रख कर आत्मिकता के स्तर पर प्रतिष्ठित करने की कोशिश की गई है । चित्रांगदा कामुक प्रवृत्ति को बढ़ावा न देकर अपने कर्तव्य के निर्वहन के लिए भी सचेत करती है ।

चित्रांगदा मणिपुर राज्य की एक राजकुमारी है । उसके पितृ-कुल को शिव का वरदान प्राप्त है कि उनके कुल में कभी पुत्री पैदा नहीं होगी । चित्रांगदा के जन्म से वह महा वरदान विफल हो गया । वह जीवन-भर पुरुष-वेश में ही अपनी राजधानी में पली-बढ़ी । पिता ने उसे राजकुमार के रूप में सजाया, धनुष-विद्या की शिक्षा दी, राजनीति में पारंगत किया, ऐसे में वह अपने स्त्रीत्व के ज्ञान से अनभिज्ञ रह गई । एक दिन जब वह सघन वन में हिरण का शिकार करने निकली तो मार्ग में सोये हुए ब्रह्मचारी अर्जुन से उसका सामना हुआ । अर्जुन को देखकर उसे मार्ग से हट जाने का आदेश दिया लेकिन अविचलित युवक ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया । क्रुद्ध और क्षुब्ध चित्रा अर्जुन को अवज्ञापूर्वक पैरों से ठेल देती है, परन्तु जब अर्जुन चित्रांगदा के समक्ष खड़े होते हैं और उसके सामान्य से रूप को देख कर उसकी अवज्ञा कर देते हैं तब चित्रांगदा को पहली बार अपने हृदय में स्त्रीत्व का बोध होता है और वह उनसे मिलने के

लिए व्याकुल हो उठती है। चित्रांगदा जिसने कभी किसी पुरुष को देख आकर्षण का अनुभव नहीं किया था, जो आजीवन एक योद्धा की साज-सज्जा में जीवन व्यतीत कर रही थी वो आज अर्जुन के साहचर्य में जाने के लिए तड़प उठती है। प्रवृत्ति की चंचलता के संबंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि 'जीवन-भर का अभ्यास प्रवृत्ति की आँच के सामने क्षण-भर न टिक सका।' १३ नारी अगर सब कुछ प्राप्त कर भी ले फिर भी उसके भीतर का चिरंतन नारी हृदय वो नहीं बदलता है। पुरुष उसके नारीत्व की उपेक्षा करे, यह उसे स्वीकार नहीं है अतः वो अपने अधिक प्रयत्न एवं मनोयोग से अपने बाह्य आकर्षण को बढ़ाने और स्थायी रखने का प्रयत्न करती है।

चित्रांगदा भी जब अर्जुन की उपेक्षा को महसूस करती है तो कहती है कि 'नारी होकर पुरुष के मन को अगर न जीत सकी, तो सारी विद्याएँ बेकार हैं। अबला की कोमल, मृणाल-भुजाएँ इनसे सौ गुणी अधिक शक्तिशाली होती हैं। परावलंबिनी लाज-भय से सिमटी-सिकुड़ी वह दुबली देह लता-धन्य है, धन्य है वह मुग्ध, भोली सामान्य ललना, जिसकी भीत दृष्टि से वीर्य-बल, तप तेज हार मानता है।' १४ अर्जुन के ब्रह्मचर्य के व्रत को जब वह अपने सौन्दर्य से न डिगा पाई तो चित्रांगदा ने मदन की आराधना की और केवल एक दिन के लिए उसकी वासना की पूर्ति की माँग की तब कामदेव और वसंत ने एक दिन की जगह एक वर्ष तक सौन्दर्य की आभा को खिले रहने का वरदान दिया। महादेवी वर्मा का भी पुरुष की स्त्री विषयक सौन्दर्य दृष्टि के विषय में यह मानना है कि 'स्त्री यदि रंगीन खिलौने के समान आकर्षक है तो वह विस्मय-विमुग्ध हो उठेगा, यदि नहीं तो वह उसे उपेक्षा की वस्तुमात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही स्थितियाँ स्त्री के लिए अपमानजनक हैं।' १५ चित्रांगदा केवल अर्जुन को अपना पति बनाने की कामना से नारी के कुरूप को सुंदरी बनाने का वरदान मांगती है।

चित्रांगदा का व्यक्तित्व निर्माण एक पुरुष की भांति हुआ इसलिए वह उन हजारों नारियों जैसी लाज से सिमटी, शंकित, काँपती हुई बेबस, विह्वल, प्रलापवादिनी और घर-बाहर केवल रोने की अधिकारिणी जैसी नहीं बल्कि उससे भिन्न उसकी छवि है। चित्रांगदा अर्जुन के प्रति प्रेम को स्वीकार करती है लेकिन उसे सदा के लिए बंधन के रूप में बंधना स्वीकार नहीं है। अपने प्रेम के संबंध में उसका कहना है कि 'मेरा यह प्रेम केवल क्रंदन का नहीं; जो नारी मौन धीरज के साथ सदा की मर्मव्यथा को गहरी रात के आंसुओं में पाला करती है, दिन को उसे फीकी हँसी से ढके रहती है, वह आजन्म विधवा रमणी मैं नहीं हूँ।' १६ अर्जुन चित्रांगदा के अनुपम सौन्दर्य को देखकर अधीर हो

जाते हैं और अपने बारह वर्ष के ब्रह्मचर्य व्रत को भंग करने की कामना करते हैं, लेकिन चित्रांगदा अर्जुन को यह कहती है कि 'धिक्कार है, पार्थ, तुम्हें धिक्कार! मैं कौन, है क्या मुझमें, तुमने ऐसा देखा क्या, जानते कितना हो मेरा! किसके लिए भूल रहे हो अपने को! क्षण-भर में सत्य को तोड़ अर्जुन को अनर्जुन कर रहे हो किसके लिए! मेरे लिए नहीं। इन दो नीलोत्पल नयनों के लिए; सत्य के बंधन को दोनों हाथों छिन्न-भिन्न करके इन दो नवनीनिदित बाहुओं में सव्यसाची आकर कैद हो गया है। कहाँ गई प्रेम की मर्यादा! कहाँ पड़ा रह गया नारी का सम्मान!' १७ यहाँ चित्रांगदा अपनी तुच्छ देह को महत्व न देकर अपने कर्तव्य को याद रखने की बात करती है। अर्जुन को अपने कर्तव्य पथ से विमुख होते देख, उसके व्यक्तित्व पर कामुकता के आतंक को देख चित्रांगदा उसे सचेत भी करती है और सत्य की पहचान भी करवाती है कि 'मिथ्या की उपासना न करो। अपना शौर्य, अपना वीर्य, अपना महत्व मिथ्या के चरणों में न चढ़ाओ।' १८

चित्रांगदा मणिपुर राज्य की रक्षक है, जिसके कठिन भुजाओं ने लक्ष्य बेधना सीखा है, मेघ की सुनहली छटा एवं फूल की सुगंध के समान बंधन में रहना नहीं जानती, किसी वीर को अपने सुकोमल आचरण से बांधने की कला नहीं जानती उस स्वतंत्र नारी से अर्जुन परिचित नहीं है। चित्रांगदा नारी के दुर्भाग्य की तरफ इशारा करती है कि 'नारी यदि नारी हो, केवल धरती की शोभा, केवल जोत, केवल प्यार-केवल मीठे छल से शत-शत भंगिमाओं से लुटकर, जकड़कर, हँस-रोकर सेवा-प्यार से भरी-पूरी सदा देखती रहे - तभी उसका जन्म सार्थक जानो। उसकी कर्म-कीर्ति, बल-वीर्य, शिक्षा-दीक्षा क्या होगी?' १९ पुरुषों ने स्त्री को केवल अपनी कामासक्त प्रेमवृत्ति को पूर्ण करने का एक साधन माना है। मनुष्यों की प्रवृत्ति रही है कि कामना एवं वासना के विलास में डूब अपने कर्तव्य पथ से विचलित होते रहे हैं। अर्जुन जैसे वीर भी जब कामाशक्ति के प्रभाव से विचलित हो गए और अपने ब्रह्मचर्य के व्रत को भूल बाह्य सौन्दर्य को महत्वपूर्ण मान बैठे। यहाँ चित्रांगदा एक स्वतंत्र नारी का प्रतिनिधित्व कर रही है। वह पुरुष की सहधर्मिणी एवं सहभागी बनकर जीवन के कर्तव्य पथ एवं दायित्व के निर्वाह में साथ-साथ चलना चाहती है। चित्रांगदा अपना परिचय देते हुए कहती भी है कि 'मैं चित्रांगदा हूँ। देवी नहीं, न ही मामूली रमणी हूँ मैं। पूजा करके जिसे माथे चढ़ाओ, वह भी नहीं हूँ मैं; अवहेलना से पालतू बनाकर पीछे डाल दो, मैं वह भी नहीं। यदि संकट के पथ पर मुझे पार्श्व में रखो, दुरुह चिंता में भागीदार बना लो, अपने कठोर व्रत में यदि हाथ बँटाने

की अनुमति दो, सुख-दुःख की सहचरी बनाओ -मेरा परिचय तुम तब पाओगे ।'२०

वस्तुतः प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए पूरी व्यवस्था से विद्रोह करती दिखाई पड़ती है वही रवीन्द्रनाथ की चित्रांगदा भी मणिपुर राज्य के प्रति अपने कर्तव्य को महत्वपूर्ण मानती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकृति दे वह अर्जुन के साथ जाना स्वीकार नहीं करती है । वह अपने बल पर गर्भ में पल रहे अर्जुन की संतान को वीर बनाने का संकल्प करती है । स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति दोनों ही नाटकों में देखने को मिलती है । ध्रुवस्वामिनी एवं चित्रांगदा दोनों ही सशक्त नारी का परिचय देती हैं । पुरुष अगर कलुषित है तो नारी उसे त्याग सकती है और अपनी स्वेच्छा से अपने जीवन साथी का चुनाव भी कर सकती है । एक नारी पुरुष को अपने अँगोपास में बाँध कर रखने की क्षमता भी रखती है तो उसे कर्तव्य पथ पर भी खड़ा कर सकती है । प्रसाद की ध्रुवस्वामिनी में समष्टि मुक्ति की चेतना है । वह नारी जाति की सामाजिक कर्मकांडों, सामाजिक वर्जनाओं, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति की कामना कर रही है । वह धर्मशास्त्रों के बंधन से, सामाजिक लोकाचार से अलग अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व चाहती है । वह नारी के स्वतंत्र अस्तित्व के साक्ष्य धर्मशास्त्रों से दिलवाती है । ध्रुवस्वामिनी अंततः स्वतंत्र होकर भी पुनः वह चन्द्रगुप्त के साथ रहना स्वीकार करती है । वही रवीन्द्रनाथ की चित्रांगदा व्यक्ति मुक्ति की कामना कर रही है । सामाजिक व्यवस्था में उसे पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त है और समस्त राज्य का दायित्व उसके ऊपर निर्भर है । पिता ने आरंभ से ही उसका व्यक्तित्व निर्माण एक पुरुष के समान किया है । वह अपने आपको भोग्या के रूप में नहीं देखती बल्कि एक स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में उसकी पहचान है । उसका व्यक्तित्व आधुनिक नारी के निकटतम है, जो पुरुषों के साथ कदम मिलाकर चलना चाहती है लेकिन बंधन में जकड़ना उसे स्वीकार नहीं है । अतः दोनों ही नाटक अपने काल एवं परिस्थिति में भले ही भिन्न हों लेकिन वह मूल रूप से अपने समसामयिक यथार्थ को ही अभिव्यक्त करते हैं । स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति इसका मूल उद्देश्य है ।

संदर्भ ग्रंथ :

१. रस्तोगी, गिरीश ,हिन्दी नाटक का आत्मसंगर्ष,लोकभारती प्रकाशन ,संस्करण -२०१७,पृष्ठ संख्या - ६३
२. वर्मा ,महादेवी , श्रृंखला की कड़ियाँ , लोकभारती प्रकाशन ,पंचम संस्करण -२०१९ ,पृष्ठ संख्या- ४१
३. सम्पादन एवं भूमिका डॉ. मिश्र ,सत्यप्रकाश, प्रसाद के

सम्पूर्ण नाटक एवं एकांकी ,लोकभारती प्रकाशन ,चतुर्थ संस्करण -२०१३, प्राक्कथन २६

- ४ . वही ,पृष्ठ संख्या -७५६
- ५ . वही ,पृष्ठ संख्या -७५६
६. वही ,पृष्ठ संख्या -७५७
७. वही ,पृष्ठ संख्या -७५८
८. संपादक डॉ. गुप्ता ,विमला ,प्रसाद चिंतन, संस्करण १९९०, पृष्ठ संख्या -२६५
९. सम्पादन एवं भूमिका डॉ. मिश्र ,सत्यप्रकाश, प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक एवं एकांकी ,लोकभारती प्रकाशन ,चतुर्थ संस्करण -२०१३, पृष्ठ संख्या - ७७६
१०. वही ,पृष्ठ संख्या -७७९
११. साहा,रणजीत ,रवींद्र मनीषा, साहित्य अकादेमी ,प्रथम संस्करण -२०१५,पृष्ठ संख्या -३६३
१२. वही ,पृष्ठ संख्या - ३६३
१३. द्विवेदी ,हजारीप्रसाद, मृत्युंजय रवींद्र ,राजकमल प्रकाशन ,प्रथम संस्करण १९६३ ,पृष्ठ संख्या -१२२
१४. प्रधान संपादक , चौधुरी, इन्द्रनाथ ,रवींद्रनाथ टैगोर रचनावली खण्ड-८ सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन ,प्रथम संस्करण - २०१२ ,पृष्ठ संख्या -५८
१५. वर्मा ,महादेवी , श्रृंखला की कड़ियाँ , लोकभारती प्रकाशन ,पंचम संस्करण -२०१९ ,पृष्ठ संख्या- ४१
१६. प्रधान संपादक , चौधुरी, इन्द्रनाथ ,रवींद्रनाथ टैगोर रचनावली खण्ड-८, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन ,प्रथम संस्करण - २०१२ ,पृष्ठ -५९
१७. वही,पृष्ठ -६४
१८. वही ,पृष्ठ-६५
१९. वही ,पृष्ठ-७७
२०. वही ,पृष्ठ-८३

संपर्क-56 B,बेचू चटर्जी स्ट्रीट,लैण्ड मार्क

उदयायन स्पोर्टिंग क्लब

कोलकाता-७००००९

मो.८८२०५०७६७९

Email-pujaprasad069@gmail.com

‘सेज पर संस्कृत : जैन धर्म में नारी जीवन का यथार्थ’

आकांक्षा मिश्रा

शोध छात्रा, (हिंदी-विभाग)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

Email: d-priyaom01012001@gmail.com

Mobile No. 6392426660

मनुष्य का एक ही कर्म व धर्म है और वह है मानवता। हम इस दुनिया में इंसान बनकर आए हैं तो सिर्फ इसलिए कि हम मानव सेवा कर सकें। पूरे विश्व में ईश्वर ने हम सभी को एक-सा बनाया है। फर्क बस, स्थान और जलवायु के हिसाब से हमारा रंग-रूप, खान-पान और जिंदगी जीने का अलग-अलग तरीका है। आत्मभाव से हर मनुष्य एक समान है।

धर्म एक पवित्र अनुष्ठान भर है, जिससे चेतना का शुद्धिकरण होता है। धर्म मनुष्य में मानवीय गुणों के विचार का स्रोत है, जिसके आचरण से वह अपने जीवन को चरितार्थ कर पाता है। मानवता के लिए न तो पर्याप्त संसाधनों की आवश्यकता होती है और न ही भावना की, बल्कि सेवा भाव तो मनुष्य के आचरण में होना चाहिए। जो गुण व भाव मनुष्य के आचरण में न आए, उसका कोई मतलब नहीं रह जाता है। मानव धर्म सभ्यता और संस्कृति की एक प्रकार की रीढ़ की हड्डी है। इसके बिना सभ्यता व संस्कृति का विकास कल्पना मात्र ही है। मानव धर्म की वास्तविकता और उपादेयता इसी में है कि मनुष्यत्व के विकास के साथ ही साथ विश्व भर के लोग सुख, शांति और प्रेम के साथ रहें। प्राणिमात्र में रहने वाली आत्मा उसी परमपिता परमेश्वर का अंश है। प्रत्येक में एक ही जगतनियंता प्रभु का प्रतिबिंब दिखलाई देता है, यह समझकर मनुष्य की ओर आदर भावना बनाए रखें, तब ही अंतरराष्ट्रीय भावनाओं का, चाहे वे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हों, सर्वांगीण विकास संभव है। मानव धर्म का आध्यात्मिकता और नैतिकता से महत्वपूर्ण संबंध है। यदि किसी मनुष्य की चारित्रिक या नैतिक आदर्श में श्रद्धा नहीं है,

ईश्वरीय सत्ता में यदि उसका विश्वास नहीं है, इसके अतिरिक्त सहृदयता, सात्विकता, सरलता आदि सद्गुण उसमें नहीं हैं, तो इस स्थिति में यह स्वीकार करना होगा कि अभी उसने मानव धर्म का स्वर-व्यंजन भी नहीं सीखा है।

मधु कांकरिया का ‘सेज पर संस्कृत’ उपन्यास सन् २०१० में राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। यह उपन्यास बेधक, जुझारू, धैर्यवान और अंततः विद्रोही स्त्री की आंतरिक पीड़ा का बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण करता है। धार्मिक चिंतन और व्यवहार से जुड़े इस संसार में स्त्री जीवन कितना कठोर, क्रूर और भयावह हो सकता है, ‘सेज पर संस्कृत’ के बहाने इस यातनागाथा का हमें बड़ी ही नजदीकी से परिचय मिलता है।

उपन्यास में आर्थिक समस्या में जकड़ी ऐसी मां का चित्रण है, जो अध्यात्म को मुक्तिमार्ग मानकर चाहती है कि उसकी जवान बेटियां भी इसी मार्ग को अपना लें, ताकि उनके जीवन को नया आयाम मिले। उसकी धारणा है कि किसी स्त्री के साध्वी बन जाने पर परिवार का मान-सम्मान अनायास बढ़ जाता है, आर्थिक विपन्नता दूर हो जाती है। साध्वियों की जीवन-स्थिति एवं उनके अंत तक अंतर्बाह्य संघर्ष को मार्मिक शब्द देने वाले इस उपन्यास में जहां सामाजिक, आर्थिक विषमता को विस्तार दिया गया है, वहीं अन्याय और शोषण की अभिव्यक्ति को नई भाव-भूमि।

इस उपन्यास में एक ऐसा परिवार चित्रित किया गया है जिसका मुखिया और पुत्र ऋषि की मृत्यु हो जाने के कारण मां पर सारी जिम्मेदारियां आन पड़ी हैं। दो-दो बेटियां और घर में कोई भी पुरुष नहीं जो परिवार संभाल सके। समाज में बिना

पुरुष वाले घर की स्थिति कुछ खास अच्छी नहीं होती। शिकारी कुत्तों की तरह लोगों की नजर उस घर पर रहती है इसी बेचैनी के कारण मां साध्वी बन जाने को तत्पर दिखाई देती है। लेकिन बड़ी बेटी शुरू से अंत तक धर्माडंबरो का घोर विरोध करती है। वह कहती है -

‘बीमारी, बुढ़ापा और मौत को देख जब सिद्धार्थ तक विचलित हो गए थे। संसार का त्याग कर चुके थे तो यह तो मेरी अम्मा है।’

अम्मा दोनों बेटियों संघमित्रा और छुटकी को भी दीक्षा दिलाना चाहती है इसलिए दोनों बेटियों को ‘शिखरजी’ मंदिर लेकर जाती है ताकि वहां के दुःख, दैन्य, दारिद्र्य और जीवन की भयावहता को वे अपनी आंखों से देखें और शांत, प्रसन्न और सौम्य रहने वाले साधुओं-साध्वियों को देख उनसे प्रेरित हो जीवन के मोह और भोग से ऊपर उठकर मनसा, वाचा, कर्मणा दीक्षा का वरण करें। जिससे जीवन से थकी, हारी इस मां को उसकी जिम्मेदारी से सम्मानपूर्वक मुक्ति मिल जाए। वह सांसारिक बंधनों से मुक्त होना चाहती है। यह आदमियों की दुनिया है जो रोटी तो देगी पर बोटी नॉच लेगी। घर में कोई पुरुष न होने की वजह से आर्थिक विषमता के चलते अब यह घर न उससे संभलेगा और न ही संघमित्रा की साबुन के धंधे से। इसकी वजह से सबसे अच्छा और सीधा मार्ग दीक्षा का ही उसे नजर आता है इस पर संघमित्रा कहती है-

‘तुमने तो धर्म को, लोमड़ी की तरह चालाक बना दिया है। जीवन मुश्किल लगे तो धर्म का लबादा डाल लो। सोचो मां, तुम्हारा डर और असुरक्षा बोध इस कारण है कि घर में कोई पुरुष नहीं। तुम्हें लगता है कि तुम अपने बूते हमारे लिए पति का जुगाड़ नहीं कर पाओगी तो इन्हें धर्मरूपी पति के हवाले कर दो। पर हमें न पति चाहिए न घर। हमें बस थोड़ा-सा भरोसा दो जिससे हमारे पंखों को मजबूती मिल जाए, फिर हम अपना आसमान खुद ढूंढ लेंगे। औरत होने के डर से तुम खुद भी मुक्त हो जाओ और हमें भी मुक्त कर दो।’

शिखरजी की यात्रा करते हुए संघमित्रा का मन उखड़ गया जब वह देखती है कि भूख से चक्कर खाकर एक डोलीवाले (जो तीर्थ यात्रियों का सामान ढोते हैं) का पैर फिसल गया लेकिन उसकी सहायता के लिए कोई नहीं आया वहां से यात्रियों का कारवां गुजरा, एक-एक कर कई यात्री पास से गुजरते गए, दो दिगंबर मुनि भी उधर से गुजरे। वह कहती है -

‘जाने कितने ऋषियों और मुनियों की कर्मस्थली रही ये पहाड़ियां। जिनमें महावीर तो राजघराने के थे। पर मानव

मुक्ति के लिए इन तपोवनों को ही महावीर ने घर बनाया और अपने भीतर का सारा-सौंदर्य उड़ेल वे उन जीवन सत्यों तक पहुंचे जिनके समक्ष दुनिया की सारी पूजा और धर्मग्रंथ भी हल्के पड़ गए। अहिंसा, करुणा, अपरिग्रह का अमर संदेश देते महावीर! उन्हीं की कर्मस्थली और देवस्थली पर इतने जीवित देवताञ्छभूखे, रेंगते और निर्वस्त्र! इतने अपाहिज! इतनी सड़ी-गली, भूरी-काली ठठरियां!’

शिखरजी मंदिर, जिसे जैनियों का मक्का मदीना कहा जाता है के अंतर्गत जैनियों के एक से एक आलीशान इक्कीस मंदिर थे लेकिन इनके आस-पास एक भी विद्यालय और अस्पताल नहीं थे, जिसकी आवश्यकता थी। ऐसे धर्म एवं धर्म के अनुयायियों का क्या पूजन-अर्चन करना, जिनके आसपास रोगी, कोढ़ी, भूखे, नंगों, लूठों और लंगड़ों की पूरी एक लड़खड़ाती दुनिया सामने हो। कहीं टूटे हाथ, तो कहीं रेंगते घसीटते शरीर, तो कहीं गली हुई नाक, तो कहीं सड़ी हुई अंगुलियां। इनका जीवन ऐसा था जो जिंदा थे मगर जीवित नहीं नजर आ रहे थे। इन्हीं के बीच से गुजरते वीतरागी साधु-साधवियां! मोक्षकारी स्त्री-पुरुष! और यात्रियों का झुंड लेकिन किसी को इनके दुःख, दर्द की परवाह नहीं, किसी में मानवता का लेश मात्र नहीं, ऐसी भक्ति से क्या फायदा? संघमित्रा का मन अवसाद और हताशा से भर गया जब वहां बालू ढोने वाली लड़कियों से पूछने पर उत्तर मिला सुबह साढ़े आठ बजे से शाम पांच बजे तक अर्थात् साढ़े आठ घंटों की कमाई मात्र पांच रुपया।

संघमित्रा ‘महाराज उदितजी’ से मिलती है तो अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहती है-

‘मैं तो यही देख रही हूँ कि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण हो रहा है। काली शक्तियां मौज कर रही हैं और श्रम को किसी पवित्र पाठ की तरह पहनेवाली मेहनती जनता भूखी मर रही है और इसके जिम्मेदार भी आप हैं। क्योंकि आपका समाज में बहुत प्रभाव है। और आप हैं कि समाज और व्यवस्था के संबंधों की पड़ताल किये बगैर ही मुक्ति का शॉर्टकट वाया आंतरिक क्षेत्र से निकाल देते हैं ताज्जुब है कि यहां आकर जो चीज मेरे सामने कांच की तरह साफ हो गई, उसे आप साधना के इतने वर्षों में भी नहीं समझ पाए? खैर आपसे मेरा अनुरोध है कि आप उन काली शक्तियों को दंड नहीं दिला सकें तो कम-से-कम सब भाग्य का फल कहकर उनकी पैरवी तो मत कीजिए।’

साध्वी जीवन की शुरुआत मां ने घर से ही शुरू कर दी थी। दही, चना, हरी पत्तेदार सब्जियां आदि के साथ-साथ सूर्यास्त के बाद आहार का त्याग यह नियम भी लागू हो चुके थे। बाल

सुलभ छुटकी पर मां की बातों का गहरा प्रभाव पड़ता जा रहा था। पांच साढ़े पांच वर्ष की छुटकी खेलने-कूदने की उम्र में धर्म की दलदल में फंसती चली जा रही थी। संघमित्रा मां से कहती है- 'बच्चों के मन में सौंदर्य के बीज बोए जाते हैं, भय और कुरूपता के नहीं। तुमने इसके बचपन को मार डाला ज़ब्तुत बुरी हो तुम मां, तुम्हारी सोच में सिर्फ मौत और दुःख है। रोगी हो तुम। यदि सभी लोग इस प्रकार सोचने लगे तो जीवन असंभव हो जाएगा।'

मां पूर्णिमा देवी और छुटकी अजीमगंज से कोलकाता पहुंचते हैं जहां उनकी दीक्षा होने वाली है। दीक्षा के आखिरी समय तक संघमित्रा छुटकी की बालदीक्षा के खिलाफ लड़ना चाहती है। वह कहती है-

'अम्मा याद रखना जिनकी शरण में जा रही हो न तुम, खुद उनका जीवन व्यर्थ है। वह सिर्फ मंत्रों की दुनिया है, यंत्रों की नहीं, क्योंकि उसके लिए तो हाथ-पैर डुलाना पड़ता है, पसीने बहाने पड़ते हैं। पर वे ऐसा नहीं करते। इस कारण हर वक्त जीवन की व्यर्थता और निस्सारता का ही राग-अलापते रहते हैं। हर जीवन दूसरे से अलग है। यह कैसे संभव है कि तुमने जो रास्ता चुना हमारा कल्याण भी उसी रास्ते से हो?'

बालदीक्षा के खिलाफ लड़ने के लिए संघमित्रा अपनी सहेली मालविका की मदद लेती है। वह इस सफेद दुनिया का काला सच उजागर करना चाहती है। दोनों संघ प्रमुख गुरुदेव से मिलकर शायद इस दीक्षा को रुकवा सकें।

संघमित्रा मां से कहती है- 'तुम जिस महाराज के बल पर नाच रही हो ना- खुद उनका जीवन वर्षों से एक ही बिंदु पर अटका हुआ है। वे क्या तुम्हें मार्ग दिखाएंगे? उनमें जरा भी मानवीयता होती तो वे इस बालिकादीक्षा का विरोध करते। क्या वे नहीं जानते कि पौधा अपनी स्वाभाविक जमीन पर ही उगता है, नहीं तो मर जाता है। क्या उन्हें नहीं पता जीवन का मतलब ही संघर्ष है। पर वे तो खुद रोगी है, धर्म के रोगी।'

गुरुदेव तक पहुंचने के लिए साध्वी किरणप्रभा जी, साधु सुनील मुनि, साध्वी श्री अपूर्वा, हेमप्रज्ञा, मंजूरेखा, कंचनप्रभा, उदितमुनि आदि को जरिया बनाना पड़ता है। इनकी दीक्षाएं भी १२-१३ की कम उम्र में हुईं और आज केवल धर्म ही उनके लिए सब कुछ है।

संघमित्रा कहती है- 'यह सारी धार्मिक सत्ता कितनी अमानवीय हो उठी है- कि निषिद्धों के इंजेक्शन दे-देकर युवतियों के उल्लास-उमंग और यौवन सुलभ स्वप्नों की भ्रूणहत्या की जा

रही है। कहीं परिवार में रहते हुए जीवन न जाग जाए इस कारण अंकुरों को ही मसल देना- संभावना को शेष कर देना और नाम दे देना वैराग्य।'

संघ प्रमुख गुरुदेव श्री जीवसिद्धि से मिलने के लिए जैसे-तैसे बीस मिनट का समय दिया जाता है तो वह कहती है कि राशि (छुटकी) विनायिका को दीक्षित न करें। यह साधु जीवन केवल दिखाना है। इस दुनिया का रास्ता खुलता तो आसानी से है पर एक बार इस पर चलने वाला वापस नहीं लौट पाता। संघमित्रा कहती है- 'महाराज, जो आस्था बुद्धि और विवेक की हत्या कर दे वह आस्था नहीं, अंध-आस्था और अंध-विश्वास ही होता है। उसी अंधी आस्था का परिणाम है कि हजारों वर्षों पूर्व के अतीत को ज्यों-का त्यों अपना लिया है आप लोगों ने। काश, आप लोगों ने उसे सत्य की छलनी से छाना होता, सूप से फटकारा होता तो इतनी संभावनाशील युवा शक्ति को आपने इस प्रकार तमस, जड़ता और कर्महीनता के अंधकूप में नहीं धकेला होता। सोचिए महाराज, जो युवाशक्ति हंसते-हंसते इतना कठोर जीवन अपना ले, जो अपनी प्यास को ही पी जाए, भूख को ही गटक ले, वह युवा शक्ति क्या नहीं कर सकती थी? यदि आप चाहते तो इस युवा शक्ति और ऊर्जा को एक शक्तिशाली, जीवंत और बेहतर मानवीय समाज की संरचना के लिए उपयोग कर पूरी मानवता का उपकार कर सकते थे- आप देश की रीढ़ बन सकते थे, पर आप-'

आपका धर्म इंसान को ईश्वर से जोड़ने की आड़ में इंसान को इंसान से तोड़ता है। आपका धर्म इंसानों में नहीं जीव-जंतुओं में ज्यादा दिलचस्पी रखता है। संघमित्रा कहती है-

'आपके इतने धन-कुबेरों, अरबपति, करोड़पति और लखपति श्रावकों और भक्तों में सही मायने में कोई भी महावीर का अनुयायी नहीं निकलेगा। आप गौर फरमाएं, महावीर ने फ्रांस क्रांति और कार्ल मार्क्स के पहले ही 'अपरिग्रह' का उपदेश दिया था क्योंकि वे जानते थे कि सब सामाजिक बुराइयों की जड़ में यह पूंजी संचय ही है। पर आपके यहां जो जितना बड़ा पूंजीपति वह उतना ही सम्मानजनक। अहिंसा प्रधान आपके धर्म में धोखाधड़ी, जालसाजी, चोर बाजी, मिलावट, सूदखोरी, जमाखोरी, टैक्सचोरी, मुनाफाखोरी, स्मगलिंग, बाल-शोषण, स्त्री-शोषण, श्रम-शोषण जैसे जघन्य आर्थिक अपराधियों को पाप समझा ही नहीं जाता है। और तो और, नकली दवा बेचनेवालों और खादयानों में मिलावट करनेवालों के दुष्कर्मों को भी पाप घोषित नहीं किया जाता है जिससे हजारों-लाखों परिवार बर्बाद

हो जाते हैं। पाप के हाथियों को यहां खुला गेट पास दिया जाता है और लोगों को समझाया जाता है कि पाप है, हरी सब्जी खाने में, अनछाना पानी पीने में, गाजर, मूली, आलू, प्याज खाने में। सूर्यास्त बाद खाने में खुले मुंह से बोलने में क्योंकि इससे जीवों की हत्या होती है। आपका धर्म इंसानों में नहीं जीव-जंतुओं में ज्यादा दिलचस्पी रखता है कीड़ों- मकोड़ों को ही समर्पित है यह। मनुष्य के मनुष्यत्व में जो कीड़े लगे हैं उसकी आपको फिक्र नहीं है।

लाख कोशिशों के बावजूद संघमित्रा असफल हो जाती है। संघमित्रा के विरोध के बावजूद मां छोटी बेटा छुटकी को जैन धर्म की दीक्षा देती है। छुटकी इतने कम उम्र की है कि उसे दीक्षा के नाम पर होने वाले अत्याचारों के बारे में समझ नहीं है। वह दीक्षा के समय होने वाले समारोह को लेकर उत्साहित रहती है।

संघमित्रा मुकदमा करना चाहती है तो उसकी सहेली मालविका कहती है-

‘इस देश में ढोर-मवेशियों तक के लिए कानून है पर धर्म और दीक्षा के विरोध में ऐसा कोई भी कानून नहीं है। क्योंकि मामला धर्म से जुड़ा है, और धर्म से टकराने में इस देश के हाड़ कांप जाते हैं।’

दीक्षा के समय होने वाले ‘केश-लुंचन’ का बड़ा मार्मिक चित्रण लेखिका ने किया है-दीक्षा के दिन सजी-धजी छुटकी को अपार जनसमूह के सामने साध्वी घोषित कर दिया जाता है। उसका नामकरण ‘साध्वी दिव्यप्रभा’ के रूप में होता है और दुल्हन बनी छुटकी का रूपांतरण साध्वी में किया जाता है। मुंह पर श्वेत पट्टी, नंगे पैर, केश-कुंचनधर्म के नाम पर एक मासूम बच्ची की भावनाओं पर अत्याचार किए जाते हैं और इन्हीं अत्याचारों को सामूहिक आनंद का अवसर बना दिया जाता है।

लाख कोशिशों के बावजूद असफल रही संघमित्रा वापस अपने घर अजीमगंज आकर जीवन को नए सिरे से जीने की कोशिश करती है।

धर्म की आड़ में छिपे नारी शोषण ही इस उपन्यास की प्रमुख समस्या है। आजकल धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार होते रहते हैं। इसी वजह से धर्म का मूल्य घटता चला जा रहा है। धर्म का हनन संस्कृति का हनन है। जैन धर्म में सुरक्षा पाने वाली दिव्यप्रभा को धर्म ने ठुकराया क्योंकि विजयेन्द्र मुनि और दिव्यप्रभा दोनों आपस में प्रेम करते हैं और शादी करना चाहते हैं। विजयेन्द्रमुनि गुरुभाई अभयमुनि का सहयोग

लेना चाहता है। लेकिन अभयमुनि धोखा देता है और दिव्यप्रभा उसके कामाग्नि का शिकार बन जाती है। अभयमुनि का कुछ नहीं बिगड़ता, दिव्या का ही जीवन इससे बर्बाद होता है। इसीलिए उसे वेश्यामंडी जाना पड़ा। संघ से निष्कासित होने के बाद हालात से मजबूर होकर दिव्यप्रभा को वेश्या बनना पड़ता है। जब वेश्या मालकिन ने सुना कि कोख में पल रहा बच्चा दुष्ट मुनि के बलात्कार का परिणाम है तो वह कहती है - ‘हम इसे ऋषिकन्या कहेंगे। दुनिया भी तो देखे कि ऋषियों के शुक्राणु वेश्या के कोठे में पनपते हैं।’ अपने बच्चे को पालने के लिए दिव्यप्रभा को वेश्यावृत्ति का मार्ग स्वीकारना पड़ा। निरंतर ऐसा करने से वह कैंसर रोगी बन गई। अभावों से मुक्ति पाने के लिए, गरीबी के कारण अनेकों ने धर्म की राह ली। लेकिन धर्म से उसे कुछ नहीं मिला।

विजयेन्द्र मुनि अपने पत्र के माध्यम से महाराज को संबोधित करते हैं-

‘हमने धर्म का घेरा बहुत सीमित कर रखा है- सिर्फ अपने आत्म उन्नयन और आत्म मुक्ति तक। आज धर्म इसीलिए पराजित है कि उसने अनंत सामाजिकता को नकारकर अपने को अपने आत्म तक ही सीमित कर डाला है। आपने व्यक्ति, समाज और व्यवस्था के अंतर्निहित संबंधों को नकारकर सिर्फ व्यक्ति के अंतःकरण के क्षेत्र को ही मुक्ति और निर्वाण के लिए चुना है जो शब्दों का सिर्फ कुहासा मात्र है जो हमें कहीं नहीं ले जाता। सोचिए, आप अपने समय के सूर्य, आचार्य प्रमुख पर पहुंच आपकी बित्ते भर नहीं है। क्या हमने कभी सोचा है कि क्यों ठंड से बचने के प्रयास से एक आदमी आग की लपटों में झुलस कर मर जाता है? क्यों भूख से तड़पती मां अपनी संतान को बेचने के लिए विवश है? क्यों युवक अपना गुर्दा बेचने को विवश है? क्यों एक करोड़ साधुओं के इस देश में पच्चीस लाख वधुएं जला दी गई हैं? यानी हम और हमारा धर्म क्या एक संपूर्ण पराजय नहीं है? ए टोटल फेलियर ? क्या कर रहा है हमारा साधु-समाज ऐसे भयंकर मानवीय त्रासदियों के परिप्रेक्ष्य में? क्या योगदान है हमारा?? एक संवेदनामूलक और मानवीय समाज के निर्माण में??’

मूल्यच्युति और अमानवीयता भी इस उपन्यास में दर्शायी गई है। धर्म का कुछ मूल्य होता था। वह पवित्र लोगों को सही दिशा दिलाने के लिए बनाई गई व्यवस्था थी। लेकिन आज वही धर्म नारी को भोग्या की दृष्टि से देख रहे हैं। नारी पर होने वाले अत्याचार की, अमानवीयता का उचित दृष्टांत इस उपन्यास में है। धर्म गुरुओं के खोखलेपन और धार्मिक अतःपतन भी

इसमें दर्शाया है। ब्रह्मचर्य पर आस्था रखने वाले धर्मगुरु अनुकूल परिस्थिति मिलते ही अपना वास्तविक रूप बाहर दिखाते हैं। दीक्षागत व्यक्ति की उम्र के बारे में वे सोचते तक नहीं हैं। भोले-भाले बच्चे सात साल से लेकर दीक्षित होते हैं। इसका अंजाम इस उपन्यास में व्यक्त हुआ है। धर्म मानव के कल्याण के लिए बनाए गए थे। लेकिन आज वह मानव को मानव से जोड़ने के बदले तोड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं।

विजयेन्द्र मुनि अपने पत्र के माध्यम से महाराज को संबोधित करते हैं

‘आज के संदर्भ में धर्म की असली भूमिका यही हो सकती है- उसे जीवन और मानव सेवा से जोड़ना। उसे गांधी के अंतिम व्यक्ति तक पहुंचाना। बजाय ऊंची आध्यात्मिक उड़ाने भरने के यदि हम धर्म को झुग्गी-झोपड़ियों, विकलांगों, भूखों, नंगों, पीड़ित मानवता, दिन-हीन और वंचितों तक पहुंचा सके तभी हमारा धार्मिक गुरु होना सार्थक है। पर यह विडंबना ही है गुरुदेव कि हमें मंदिरों की भव्यता और रख-रखाव की चिंता है पर इंसान जो ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है, उसके प्रति उदासीन ही नहीं, निर्मम तक हो चुके हैं।’

अठारह वर्षों बाद छुटकी (दिव्याप्रभा) और संघमित्रा दोनों बहनें फिर से मिलती हैं। अपनी बहन की दुर्दशा देखकर अभयमुनि की हत्या करने का निष्पत्त संघमित्रा लेती हैं। अभय मुनि में भरी वासना का सहारा लेकर उसे ‘गोचरी’ को आमंत्रित करती हैं और उत्तेजित अभयमुनि की हत्या कर आत्मसमर्पण कर देती हैं उसे आजीवन कारावास होता है। लेकिन उसे इस बात से संतोष होता है कि उसने समाज के और धर्म के ठेकेदारों का सच दुनिया के सामने रखा।

‘यह आपकी दुनिया खद्वर के नीचे मुलायम सिल्क को पहनने वालों की दुनिया है। यह सेज पर संस्कृत बोलने वालों की दुनिया है।’ इन शब्दों में संघमित्रा इस दुनिया का सच व्यक्त करती नजर आती है।

निष्कर्षतः लेखिका ‘सेज पर संस्कृत’ उपन्यास के माध्यम से बलात्कार की समस्या के साथ-साथ संन्यासी जीवन, साध्वी मुनिजनों का भी चित्रण किया है। लेखिका ने उपन्यास के माध्यम से बालदीक्षा का विरोध किया है। मधुजी ने धर्म को मानवता से जोड़कर देखा है। धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय और शोषण को भी व्यक्त किया है। लेखिका ने धार्मिक कर्मकांडों पर कड़ा प्रहार करते हुए, स्त्री विमर्श को पूर्णतः मानवीय

गरिमा के साथ प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास जहां एक तरफ धर्म में स्त्री की स्थितियों को दिखलाता है वहीं नारीवादी अवधारणा की दृढ़ विचारधारा को भी प्रस्तुत करता है। नारीवादी अवधारणा का भारतीय परिप्रेक्ष्य, जिसमें धर्म से मुक्ति में ही नारी के शोषण की मुक्ति समाहित है, जैसी अवधारणा प्रस्तुत होती है।

संदर्भ सूची-

- १) कांकरिया, मधु-सेज पर संस्कृत (२००८), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या - ४५
- २) उपरोक्त, पृष्ठ संख्या-५१
- ३) उपरोक्त, पृष्ठ संख्या-८१
- ४) उपरोक्त, पृष्ठ संख्या-१२०
- ५) उपरोक्त, पृष्ठ संख्या - १९१
- ६) उपरोक्त, पृष्ठ संख्या-१९२
- ७) डॉ कावले, सुनीता - कथाकार मधु कांकरिया, रोली प्रकाशन, कानपुर, २०११, पृष्ठ संख्या-८१

Address -Hall of Residence,
Women's Hostel, University OF Allhabad
Lalla chungji, Bank Road, Prayagraj,
Utter Pradesh, 211002

‘उम्र भर देखा किए’

प्रियंका जैन

‘उम्र भर देखा किए’

जीवनी (सूरज प्रकाश)

लेखक- विजय अरोड़ा

प्रकाशक-इंडिया नेट बुक्स

विगत दिनों मुझे पुस्तक मेले में जाने का अवसर प्राप्त हुआ और सौभाग्यवश वहाँ पर वरिष्ठ कथाकार सूरज प्रकाश जी से मेरी एक मुलाकात हुई। यूँ तो मैं पहले भी उनकी लिखी अनगिनत कहानियाँ तथा कई उपन्यास पढ़ चुकी हूँ जिनमें ‘यह जादू टूटना नहीं चाहिए’, ‘लहरों की बाँसुरी’ ‘देस बिराना’ और ‘खाबगाह’ हिंदी पाठकों के बीच अत्यंत लोकप्रिय हैं। परंतु जब वहाँ एक बुक स्टॉल पर उनकी जीवनी का द्वितीय संस्करण देखा तो उसे खरीदने का लोभ संवरण ना कर सकी और सबसे मजे की बात स्वयं लेखक वहाँ मौजूद थे जिनसे मैंने साधिकार ऑटोग्राफ लिया।

घर आते ही रात्रि में ही मैंने पुस्तक पढ़ना शुरू किया तो पुस्तक के लेखक और सूरज प्रकाश जी के अनुज श्री विजय अरोड़ा जी द्वारा एक छोटी सी स्वीकरोक्ति दिल को छू गई और किस तरह उन्होंने अपने खुद के अनुभव और अन्य विभिन्न स्रोतों से जानकारी जुटाकर इस पुस्तक को लिखा और सच भी है सूरज प्रकाश जी पर कोई पुस्तक लिखना सूर्य को दीपक दिखाने के बराबर है। उसके पश्चात प्रेम जनमेजय जी द्वारा लिखित रुचिकर भूमिका ने मुझे पुस्तक को अंतिम पृष्ठ तक पढ़ने के लिए बाध्य कर दिया।

प्रथम अध्याय में ही संयुक्त परिवार का वर्णन

देखकर लगा कि यह कहानी प्रत्येक मध्यमवर्गीय परिवार की कहानी है। उसके पश्चात अगले अध्याय में आम के पेड़ से आम खाने वाली घटना तो अमूमन प्रत्येक बालक के जीवन में घटती है।

स्कूल के प्रथम दिन ही दो बार परांठा काँड अत्यंत रुचिकर लगा और पढ़ कर बहुत ही हँसी आयी। आगे यह पढ़ने में भी बहुत आनंद आया कि बाकी सामान्य बच्चों की तरह सूरज जी भी बचपन में कहीं खो गए थे और साइकिल वाला कैसे उन्हें सही पते पर पहुँचाने के लिए जुगत लगाता रहा।

उससे अगले अध्याय में मध्यमवर्गीय परिवार के संघर्ष, सपने, खुशियाँ, पड़ोस का नकारात्मक माहौल वर्णित है। इस सबके बावजूद उन सब को अपने जीवन का अनिवार्य हिस्सा मानकर खुश रहना जीवन जीने का पाठ सिखा जाता है। इसके पश्चात कई छोटे-छोटे अध्यायों में उनके बचपन की कई आम घटनाओं का वर्णन है जिसमें टैटू प्रकरण, टूटा दाँत, खड़े होकर कॉमिक्स और मैगजीन पढ़ना एवं चप्पल प्रकरण बहुत ही मजेदार हैं।

साझा तंदूर और नमक वाला किस्सा वाकई चेतना को झकझोरता है कि क्यों आधुनिक समाज में हमारे

संबंध ऐसे नहीं हैं कि हम बिना किसी संकोच के सामने वाले से सहायता माँग सकें या कर सकें।

बाद के अध्याय में जीवन यापन के लिए विभिन्न छोटे-छोटे काम करने का उनका संघर्ष इसे एक आम आदमी की कहानी भी बनाता है।

आगे कहानी और रुचिकर हो जाती है। आखिर प्रेम प्रसंग वाले प्रसंग ही तो सबसे अधिक रुचिकर मालूम पड़ते हैं और जहाँ तक मुझे लगता है, आज भी श्रृंगार रस युक्त कविताएँ और प्रेम कहानियाँ ही हिंदी साहित्य में शिखर पर विराजमान हैं। आर्थिक हैसियत, हीन भावना और समुचित साधन न होने के कारण उनका प्रथम प्रेम अधूरा रह गया पर जल्द ही उम्मीद की पहली किरण जगी और उनकी कविताएँ व क्षणिकाएँ साहित्यिक पत्रिकाओं में छपनी शुरू हो गईं, हालांकि वें अभी भी कहानीकार न बन पाने की पीड़ा से छटपटा रहे थे पर जल्द ही कुछ सुखद क्षणों से पाला पड़ा जब पहली नौकरी और अपना पहला घर मिला। जल्द ही उनके कैरियर ने हिंदी अनुवादक के रूप में एक लंबी उड़ान भरी।

‘उर्फ चंद्रकला’ हिंदी साहित्य की एक विवादास्पद कहानी रही है जिससे मैं पहले से ही परिचित हूँ। इस पुस्तक में उस कहानी की बिहाइंड द सीन स्टोरी भी मालूम पड़ी।

ताश प्रकरण वाले अध्याय से पता चल जाता है कि लेखक ने बिना किसी पक्षपात के सूरज जी के व्यक्तित्व के सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष का चित्रण किया है।

उसके पश्चात एक और प्रेम प्रकरण जिंदगी में पूरी तरह व्यवस्थित न होने तथा पारिवारिक जिम्मेदारियों के चलते असफल रहा। हिंदी साहित्य में असामान्य मनोविज्ञान में पीएचडी की शुरुआत और अंत में सारे नोट्स को आग के हवाले कर देना असामान्य मनोविज्ञान का ही एक उदाहरण लगा। सूरज सर ने घर के ऊपर इतनी कहानियाँ क्यों लिखी हैं, यह अब समझ में आ गया है क्योंकि हर साल- दो साल या कुछेक साल में उनका घर छूट जाता था फिर एक नए घर की तलाश, फिर एक नया आशियाना, फिर खाने और रहने की व्यवस्था करना

वाकई एक दुष्कर प्रक्रिया है।

ऑफिस के नकारात्मक वातावरण और अपनी बचपन से घर कर गई हीन भावना के चलते वे कभी अपने हक के लिए नहीं लड़ पाए परंतु तभी एक सुखद संयोग हुआ जब उनकी जिंदगी में फिर से प्यार ने दस्तक दी जिसके लिए उन्होंने तमिल भाषा सीखी। काश सभी प्रेमी-प्रेमिकाओं कि जिंदगी में ऐसा प्यार दस्तक दे तो द्वितीय भाषा सीखना कोई मुश्किल काम नहीं रहेगा। लेखक बनने से पहले भी उनकी जिंदगी में एकतरफा प्यार के प्रकरण रहे हैं, यह नीलम वाली घटना से पता चलता है और इससे यह भी सिद्ध होता है कि उनका व्यक्तित्व शुरू से ही जादुई है।

बाद में मुंबई की नौकरी से उनकी लाइफ में वाकई यू-टर्न आ गया। अगले कुछ अध्याय में जीवन के विभिन्न संघर्षों का वर्णन है जिनमें चाची का किचन, टेलीविजन और फ्रिज को बन्द करके चले जाना, उच्च अधिकारी होने के बावजूद रात में निम्न रैंक के कर्मचारियों के साथ जमीन पर सोना उनके एक जमीन से जुड़े व्यक्तित्व होने का और हर हाल में जिंदगी के साथ सामंजस्य बिठाकर चलने का प्रमाण है।

खुद को मिलने वाले पत्र का अनुवाद करना, फिर उसके प्रत्युत्तर का भी अनुवाद करना वाकई बहुत ही मजेदार रहा होगा। गैर रचनात्मक काम करने के कारण उनके लेखक ने बन पाने की छटपटाहट अभी भी बरकरार थी।

आखिरकार रहने का मुद्दा हल हुआ और बनियान ना धोनी पड़े इसके लिए बनियान पहनना ही छोड़ दिया। समस्या का ऐसा अनोखा हल तो सिर्फ सूरज प्रकाश जी ही निकाल सकते हैं। जीवनी में आगे ऑफिस पॉलिटिक्स पर लिखा गया है जिसने उनकी जिंदगी को लंबे समय तक प्रभावित किया। उसके पश्चात मधु जी ने उनकी जिंदगी में आकर जिंदगी के कैनवास पर नए रंग भरे। शादी जैसे शुभ मौके पर पुरानी परिचिता नीलम जी का

व्यवहार वाकई अप्रत्याशित था।

उसके पश्चात पुस्तक में वर्किंग वाइफ और बच्चों के साथ जिंदगी को संभालने की चुनौती परंतु साथ ही बहुत सुखद क्षणों को भी जिया गया है। पुस्तक में वर्णित विपश्यना साधना के बारे में जानकर अच्छा लगा।

एक छोटी सी घटना किसी संवेदनशील इंसान को कैसे लेखक बना सकती है सूरज जी का जीवन इसका उपयुक्त उदाहरण है। एक बड़े अफसर होने की तुलना में छोटा लेखक होना बेहतर है यह वाकई सच्चाई है परंतु इसके कारण उन्होंने शरद जी से और पूरे मैनेजमेंट से ही नाराजगी मोल ले ली और उन्हें कई अनचाहे ट्रांसफर्स का सामना करना पड़ा।

उसके पश्चात के अध्याय में खूब पढ़ना, लेखन, ट्रेकिंग और जिंदगी के बहुत खूबसूरत पलों का वर्णन है। निरंतर संघर्षों के बावजूद लेखन के लिए वह हमेशा प्रयासरत रहे। अब तक उनकी लिखी कहानी 'यह जादू टूटना नहीं चाहिए' काफी प्रसिद्ध हो चुकी थी।

आगे के अध्याय में पता चलता है कि ऑफिस पॉलिटिक्स ने कभी उनका पीछा छोड़ा ही नहीं!

पुणे की पोस्टिंग उनके जीवन का अच्छा समय रहा परंतु अच्छे वक्त के पीछे-पीछे बुरा वक्त जैसे दबे पाँव चला आता है और २००७ में उन्हें एक जानलेवा हादसे का सामना करना पड़ा जिसमें एक मोबाइल फोन ने उनकी जान बचाई। कई सारे कठिन ऑपरेशन्स और महीनों बिस्तर में रहने के बावजूद भी वे अब काफी सही हो गए हैं यही हम समस्त पाठकों के लिए हर्ष की बात है। रिटायरमेंट के बाद उनकी जिंदगी की दूसरी पारी शुरू हुई जिसमें कई रोचक कहानियाँ तथा उपन्यास और पहला चैट उपन्यास 'नॉट इक्वल टू लव' भी शामिल है। यह भी एक सुखद संयोग है कि उनके दोनों पुत्र भयंकर पढ़ाकू हैं माता-पिता का साहित्यिक रुझान विरासत में मिला है। सूरज जी के लेखन में मधु जी का निरंतर सहयोग और इसके कारण उनके लेखन की देर से शुरुआत होना उनके पत्नी प्रेम और त्याग का सजीव उदाहरण है।

कार्यालय संबंधी विभिन्न घटनाओं का वर्णन करते समय कहीं-कहीं भाषा दुरुह प्रतीत होने लगती है परंतु बाल्यकाल तथा युवावस्था के अनेक प्रकरणों में भाषा बहुत सरल व सहज है जिनके बीच संतुलन लेखक ने बहुत ही बुद्धिमत्ता से बनाया है।

जहाँ तक मुझे लगता है सोशल मीडिया पर कई सारी महिला मित्र होना किसी के चरित्र का प्रमाण पत्र नहीं होता है। सूरज जी एक मिलनसार इंसान हैं और बेहतरीन श्रोता हैं। खराब तबीयत के कारण उन्हें काफी वक्त बिस्तर पर गुजारना पड़ा परंतु अभी भी वे आशा से परिपूर्ण और सकारात्मक हैं और हम पाठकों को यकीन है जल्द ही पूर्ण स्वस्थ होकर कुछ और बेहतरीन रचनाएँ लिखकर हिंदी साहित्य को समृद्ध करेंगे। भगवान उन्हें लंबी आयु से गौरवान्वित करें।

- प्रियंका जैन

लेखिका, ब्लॉग राइटर और कंटेंट राइटर

Phone number - 8376070158

Email ID- 1maypriankajain@gamil.com

Address-

H.No. 18/342 Gali No. 10/1
Gulab Vatika near bada Jain Mandir
Ghaziabad (Uttar Pradesh)
Pin Code- 201102
Landmark- Metro Pillar Number- 39
Pink metro line Shiv Vihar

बयान बाहर से पुनर्संभवा तक (डॉ. सुखबीर सिंह की अनंतर काव्य-यात्रा)

संपादक- प्रो. मंजू मुकुल

प्रो. मंजू मुकुल द्वारा शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली से अपने पिता के काव्य-संग्रहों पर संपादित बयान बाहर से पुनर्संभवा तक (डॉ. सुखबीर सिंह की अनंतर काव्य-यात्रा) शीर्षक पुस्तक इसी साल आई है। इसमें शामिल बयान बाहर संग्रह १९८५ में आया था और सूर्याश व पुनर्संभवा १९९० में। बयान बाहर की भूमिका में सुखबीर जी ने लिखा है, कि इसमें उनकी पिछले डेढ़ दशकों में लिखी कविताएँ संकलित हैं, यानी सूर्याश तक करीब बीस वर्षों में उन्होंने जो लिखा, वह अब एकाग्र रूप में मंजू जी ने प्रकाशित कराया है। मैंने इनकी जितनी भी कविताएँ पढ़ीं, इनकी भाषा बहुत सधी और सुलझी हुई मिली। कहना चाहिए, समकालीन कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ जैसे इनमें दिखती हैं। लेखक वर्तमान के प्रति काफ़ी सजग और भविष्य के प्रति बेहद आशान्वित हैं, वह खुद ये जानता है कि कविता में प्रतीकों, मिथकों और कलात्मक बिंबों का जंगल खड़ा न करके उसे सहज संप्रेषणीय और व्यापक जनाधार से जोड़ा जाए। कविता को व्यंग्य की धार दी जाए, ताकि उसका प्रभाव व्यापक एवं स्थायी हो सके। बयान बाहर में लिखी उनकी ये पंक्तियाँ उनकी पूरी कविताई पर बेहद स्पष्ट दिखाई देती हैं। उनकी एक कविता है- मोक्ष। उसमें लिखा है- 'ठंडी रात में/पटरी पर पड़ा देश/सोचता है/हमारे बुजुर्ग कितने समझदार थे।/जिन्होंने/भूख का सम्बन्ध भगवान से जोड़/फाके को व्रत का नाम दिया ?/विश्रुता से मोक्ष का काम लिया।/इसीलिए हम/कम से कम/मोक्ष के तो अधिकारी हैं।' जिस सहज संप्रेषणीयता और व्यंग्य की बात मैं कर रहा हूँ, उसे यहाँ देख सकते हैं।

एक और छोटी कविता है- ठोस प्रेम। चूंकि 'बयान बाहर' जैसी बड़ी कविताओं का जिक्र पिछली बार काफ़ी हुआ

है, अभी प्रमोद जी और रामचन्द्र जी ने भी किया, इसलिए मैं छोटी कविताओं पर फोकस कर रहा हूँ। 'क्या यह ठीक नहीं/ कि हम सब./सतरंगी बुलबुले से बाहर निकल।/ जब तक जियें।/ सहज होकर जियें।/प्रेम को/चाय की प्याली की तरह/ एक वाजिब कीमत चुकाते हुए/सरेआम./चुस्की ले-लेकर पियें।'

यों प्रेम शीर्षक से इन संग्रहों में चार कविताएँ हैं- 'ठोस प्रेम', 'सार्थक प्रेम', 'प्रेम' और फिर 'प्रेम'। इनके अलावा 'मौन', रक्ताभ, तुम, सूखा फूल, आश्वस्ति ऐसी कविताएँ हैं, जिनके विषय भी कमोबेश प्रेम से संबंधित हैं। इन सबमें प्रेम की अभिव्यक्ति बड़ी सहज, यथार्थपरक, बल्कि कहना चाहिए व्यंजनापूर्ण ढंग से हुई है।

इस किताब की भूमिका में मंजू मुकुल लिखती हैं- उनकी कविताओं का आत्मसंघर्ष 'दलित मन', 'सामाजिक संघर्ष', 'अकादमिक क्षमता' और वैचारिक दक्षता की जमीन से पनपा है। सुखबीर जी ने खुद भी कहा है, और इन पंक्तियों को सुखबीर जी के काव्य की प्राण-पंक्तियाँ कह सकते हैं। वे लिखते हैं- 'कविता केवल राजनीति के साथ जुड़कर ही परिवर्तन के माध्यम के रूप में सहयोगी हो सकती है... ग्रामीण जीवन, दलित वर्ग का जीवन तथा नारी जीवन की वर्तमान त्रासदी को कविता के केन्द्र में लाना आज पहले से भी अधिक आवश्यक है। यही सामाजिक प्रतिबद्धता की माँग है।' कि उनका कवि कविता की भूमिका को किस तरह देखता है और किन विषयों को अपरिहार्य समझता था, यहाँ से देखा जा सकता है।

सूर्याश की 'सूर्याश' शीर्षक पहली कविता में आपको ये तीनों जीवन एक-साथ दिखाई देते हैं। हालांकि इस कविता को पढ़ते हुए मुझे धूमिल की पटकथा की वे पंक्तियाँ याद आ गईं, जिनमें वे लिखते हैं- 'तुम चाहे जिसे चुनो/मगर इसे नहीं। इसे बदलो।/मुझे लगा-आवाज़/जैसे किसी जलते हुये कुएँ से/आ

रही है।/एक अजीब-सी प्यार भरी गुर्राहट/जैसे कोई मादा भेड़िया/अपने छौने को दूध पिला रही है/साथ ही किसी छौने का सिर चबा रही है।’

लेकिन सुखबीर जी की कविता मुझे ज्यादा व्यापक अर्थ की और ज्यादा सार्थक लगी, क्योंकि जैसा कि मैंने कहा, इस कविता में ग्रामीण जीवन, दलित वर्ग का जीवन तथा नारी जीवन की वर्तमान त्रासदी तीनों को एक साथ देखा जा सकता है, इनके अलावा यहाँ आर्थिक और राजनीतिक विषमताओं के यथार्थपरक सवाल भी स्पष्ट तौर पर मौजूद हैं। कविता का पाठ अभी हो चुका है, फिर भी इस हिस्से को देखा जाना चाहिए, सुखबीर जी ने लिखा है- अछूत कही जाने वाली दलित जातियों के ऊपर भी/ थोप दिए गए हैं नेता/ तथाकथित सवर्णों के द्वारा/ मंत्री/सांसद / विधायक/ वे भी उतने ही मक्कार और चोर हैं/ जितने सवर्ण नेता हरामखोर हैं।/डा. अम्बेडकर के सामाजिक समानता के महान कर्तव्य को भूलकर/ संविधान-प्रदत्त अधिकार के बल पर/भर रहे हैं त्रिजोरियां/ कर रहे कालाबाजारी/उच्च वर्ग सेवा/गरीब-अछूतों से मारामारी/ पूरा का पूरा दृश्य अब तो गंधा रहा है/ सड़े तालाब-सा/ आदमी पशुओं से बदतर जिंदगी जी रहा है/ कुलबुलाते केंचुओं से भरा/ बदबूदार काईदार पानी पी रहा है/ खेत खलिहान में/ पुलिस का दारोगा या सिपाही या इलाके का गुण्डा/ सरगना/ खेत में/ खलिहान में/ दिशा-मैदान में/दिन में या रात में/ अकेला या फिर किसी के साथ में/बेसहारा गरीब या अछूत/ युवतियों के पेटिकोट परलिखता है समाजवाद / ऐंठता है मूँछ!/गांधी-नेहरू-अम्बेडकर का देश/गधे की पूँछ!/आदिवासी / पिछड़ी गरीब/ हरिजन/औरतों पर सामूहिक बलात्कार!/ उच्च-सामंती तत्वों का है दैनिक खेल या फिर सामाजिक त्योहार/पेट भरने के लिए जो/दलित जन करते हैं हाड़-तोड़ मेहनत दिन-रात/जब भी करते हैं वाजिब मजदूरी की बात/ गांव में या शहर में/ खाते हैं ठेकेदार-जर्मीदार की गाली घुड़की/ प्रतिवाद में जरा-सी आवाज निकाली/तो खैर नहीं!/ कबीलाई अन्दाज से बढ़कर/ कोई शत्रुता/ कोई बैर नहीं!/ रातों-रात घेर ली जाती है बस्ती/आदमी की जान है जानवर से भी सस्ती/घरों में घुसकर/ निहत्थे लोगों का/ किया जाता है शिकार/घर की औरतों पर/सामूहिक बलात्कार!/जान बचाकर भागते लोगों का/किया जाता है पीछा/चमका-चमकाकर धारदार हथियार!/वह दृश्य देखो!/आक्रमणकारी भीड़/सारी दलित बस्ती को आग लगाकर/जश्न मना रही है/कर रही है पशुओं-सा हिंसक / जंगली / बर्बर नृत्य/अपने बच्चों को जाति-दंभ का चमत्कार/दिखा रही है !/जैसे कोई कुतिया/अपने पिल्लों को

दूध पिलाती हुई/ चबा रही है मेमने की खोपड़ी/स्वाद के मजे में गुर्रा रही है!/लोकतंत्र का यह नाटक/बदल गया है घटिया नौटंकी में!’ इनकी ‘प्रश्न’ भी लगभग इसी स्वर की कविता है। नागार्जुन के बारे में कहा जाता है कि उनकी कविताओं को पढ़कर तत्कालीन दौर का सामाजिक-राजनीतिक इतिहास लिखा जा सकता है, मेरे विचार में ये बात दलित एवं ग्रामीण जीवन के संबंध में सुखबीर जी की कविताओं को लेकर भी कही जा सकती है।

सुखबीर जी धूमिल से काफी प्रभावित थे, ऐसा मुझे लगा। धूमिल की कविता ‘लोहे का स्वाद’ याद होगी आपको- लोहे का स्वाद/लोहार से मत पूछो/उस घोड़े से पूछो/जिसके मुँह में लगाम है।’ इनकी अनंतर संग्रह में प्रकाशित एक कविता है- मिट्टी का तेल। ‘मिट्टी के तेल का स्वाद/कुआं खोदते उस मजदूर से मत पूछो/ जो फेफड़ों में भरता है मिट्टी के तेल भरी धूल/ फांक दर फांक/ जब मैं कुछ सिक्के और जिस्म में रोग के कीटाणु लिए/अपने गरीब मुल्क को लौट आता है।/मिट्टी के तेल का स्वाद दूर देहात में एकाकी खड़े/झोपड़ों के उन कंकालों से भी मत पूछो/ जो अंधेरे को दूर करने की कोशिश में/ खुद अंधेरे में डूब जाते हैं/ हवा के किसी एक ही झोंके से/काली स्याह राख में बदल जाते हैं।/मिट्टी के तेल का स्वाद/उस छात्र से भी मत पूछो/जो धुँधुआती ढिबरी के घेरे में/किताब टिकाए हुए/मिचमिचाती आंखों से/देर रात गए तक/टटोलता है शब्द दर शब्द/अपने भाग्य की लिपि को/ पहचानने की कोशिश में।/मिट्टी के तेल का स्वाद पूछो/उन रेशमी बालों से/गुलाब से दहकते गालों से।/ मेंहदी रचे हाथों से/आंखों में सतरंगी सपने लिए/ महकती रसीली बातों से/ सांचे में ढले हुए शरीरों से/ दहेज की बलिवेदी पर/ चढ़ी तकदीरों से/ जो दियासलाई की तरह/सिर्फ एक बार भभकती है/ और हमेशा के लिए/बुझ जाती है/अंधेरे में खो जाती है/ मिट्टी के तेल की चादर में लिपट/ मिट्टी की गोद में/सो जाती है।’

इनके यहाँ गांव को लेकर जितने भी संदर्भ आए हैं, वे सारे के सारे बड़े यथार्थपरक हैं, मैथिलीशरण गुप्त की ‘अहा! ग्राम्य जीवन भी क्या है’ या मुकुटधर पांडेय की ग्राम्य जीवन से पूरी तरह उलट। बयान बाहर, सूर्याश, गाँव, चिड़िया जैसी कविताएँ इसका उदाहरण हैं।

सुखबीर जी के यहाँ राजनीतिक व्यंग्य भी बहुत मिलते हैं- करवट, किसी नेता के नाम, जुलूस, तमाशा, सांप्रदायिक दंगों पर, चुनाव, होली, नक्शा मेरे देश का, जैसी कविताएँ, जिनमें वे नेताओं पर राजनीतिक व्यवस्था पर सीधे-सीधे चोट करते हैं और उनकी कलई खोलने का प्रयास करते हैं।

युवा पीढ़ी के जागरण या वस्तुस्थिति परिवर्तन को लेकर भी कुछ कविताएँ हैं- जैसे- गर्म राख। कि, 'यही वक्त है/आग को कुरेदने का।/अपने आपको तैयार करो/उतावलेपन या अनमने पन से नहीं/सधे हुए हाथों से/चिनगारियों को कुरेदो।/..... करना सिर्फ यह है/कि सूखा हुआ फूल और पुवाल/एक जगह इकट्ठा हो जाए।/गांव-देहात और महानगर के गन्दे कोनों में भी/यह काफ़ी मात्रा में मिलेगा।/खोजो तो/जहां भी दबा हो, दुबका हो/इसे इकट्ठा करना है।/उसी से वह आग बनेगी/ जिसकी रोशनी में हमारी पीढ़ियां/अपना रास्ता आसानी से खोज लेंगी।'

आपको कुछ कविताएँ पढ़कर अभिधापरक अर्थ में ऐसा लग सकता है कि इनमें कवि का निराशा-भाव व्यक्त हुआ है। निराशा भाव खुद के प्रति, जीवन के प्रति, समाज के प्रति, कवियों के प्रति, कर्णधारों के प्रति। पर मुझे लगता है कि इनमें निराशा नहीं, वर्तमान वस्तुस्थिति को दर्शाते हुए भविष्य की संभावनाओं का दिग्दर्शन कराना उनका उद्देश्य रहा है। तनाव कविता को जब माध्यम कविता के साथ पढ़ते हैं, या जब शर्त, अंधेरे की परतें जैसी कविताएँ पढ़ते हैं, तो यह बात सीधे तौर पर स्पष्ट हो जाती है।

मुझे आत्म-युयुत्सा, युगोत्तिराधिकार, भीड़ का तेवर, समय पुरुष : समय शिशु जैसी कविताएँ पढ़ते हुए मुक्तिबोध की याद आई। हालांकि मैं इसे सीधे-सीधे स्थापित नहीं कर पा रहा हूँ। हो सकता है, आपको भी आई हो।

अब मैं आपको एक कविता से वाकिफ़ कराना चाहता हूँ, जिसका नाम है- यश प्रश्न। 'परम्परा के/विशाल-वीरान/ खण्डहरों में/ मकड़ी के जालों से पटी दीवारों/ चमगादड़ों के पंखों की फरफराहट/ और सूनी सीत्कारों के बीच/ गूँजता है एक प्रश्न बार-बार/मैं क्या करूँ? इस भुरभुराते/बदबूदार माहौल में/ मैं क्या करूँ?/ पटरी पर पड़ी किताब/और धर्म ग्रन्थ के बीच/ बारूद कहां भरूँ ?/कौन से पहाड़ को तोड़ कर/ बाढ़ के पानी को/बाँझ धरती की कोख में/ उलीचूँ?/ देश अपना/ आजादी अपनी/लोग अपने/किसका टेंटुआ भींचूँ ???' इसे पढ़ते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'ठाकुर का कुआँ' कविता याद हो आती है।

यह विडंबना ही है कि हमें सुखबीर जी के लेखन को इतनी देरी से जानने का मौका मिल रहा है? तब जबकि उनके दौर के बहुत सारे स्थापित लेखक/विद्वान/प्रोफ़ेसर और आलोचक उन्हें निजी तौर पर अच्छी तरह जानते थे, उनके लेखन की महत्ता से परिचित थे, लेकिन किसी ने उन पर गंभीरतापूर्वक कलम नहीं उठाई। जबकि सुखबीर जी अकविता, विचार कविता

जैसे काव्यांदोलनों के दौर के कवि हैं! उनका एक सिरा सर्वेश्वर दयाल सक्सेना से जुड़ता है तो दूसरा गीता वडेरा से। फिर ऐसा क्यों हुआ? कम से कम मेरी सीमित जानकारी में कह रहा हूँ, मैंने किसी काव्यातिहास में डॉ. सुखबीर जी के साहित्यिक योगदान के बारे में नहीं पढ़ा।

अगर दलित संदर्भ में बात करें तो प्रायः १९८० से ही दलित साहित्य का तेजी से उभार जारी है, मैं नहीं जानता 'दलित साहित्य के इतिहास' में उनका जिक्र है कि नहीं? अगर है, तो बड़ी अच्छी बात है, पर यदि नहीं है, तो इसके कारणों पर विचार की जरूरत है! बहरहाल,

मंजू जी ने अपने पिता की रचनाओं का बहुत अच्छा संपादन किया है। उनके बाकी लेखन का भी करेंगी। अच्छी बात है, पर मुझे पर्सनली लगता है, और ये उनकी आत्मीय व सुचिंतित भूमिका को देखकर भी विनम्र सुझाव है कि यदि मंजू जी अमृतराय की 'कलम का सिपाही' की तरह अपने पिता की जीवनी लिखें तो वह ज्यादा युक्तियुक्त, ज्यादा लॉजिकल और ज्यादा बेहतर होगा, सच यह है, एक लेखक सबका होता है। संपादन तो उनका कोई भी कर सकता है, जीवनी हर कोई नहीं लिख सकता, जैसी बतौर सुपुत्री मंजू जी लिख सकती हैं। बखैर,

मुझे लगता है कि अकविता और विचार कविता से लेकर दलित साहित्य जैसे काव्यांदोलनों को और गहराई से समझने हेतु इस प्रो. मजू मुकुल द्वारा संपादित इस पुस्तक का पढ़ा जाना जरूरी है।

पाठक को भीतर तक छूती-भिगोती लघुकथाएँ

शोभा रस्तोगी

(१६५०२६७२७७)

लघुकथा विधा बहुत को थोड़े में समाहित करती है। कम शब्दों में खोल देती है गहनता लिए समूचा अर्थ जो उसे व्यापक बनाता है। समसामयिक विषयों का कथ्य रोचक, प्रतीकात्मक, बिम्ब विधान प्रवाहपूर्ण भाषा शैली में वर्णित हो तो उम्दा लघुकथाओं का सृजन होता है।

वरिष्ठ कथाकार सुभाष नीरव के दूसरे लघुकथा संग्रह 'बारिश तथा अन्य लघुकथाएँ' में अपनी विशिष्ट शैली में कथा कहती इक्यावन लघुकथाएँ हैं। शीर्षक लघुकथा 'बारिश' सचमुच पाठक को भी खूब भिगोती है। जवानी और बुढ़ापा एक साथ बारिश में नर्तन करते हैं तो इस कथा का ताना-बाना बुना जाता है। चलचित्र-सी दृश्यात्मकता का अहसास, कथाकार की चुस्त कथा-शैली 'बिटविन द लाइन' सदा विद्यमान होते हुए व्यंजना के रूप में उत्कृष्ट लघुकथा का सृजन करती है।

'लाजवंती', 'तृप्ति', 'पानी', 'तिड़के घड़े', 'गुड़िया', 'कबाड़', 'कमरा', 'दर्द' आदि लघुकथाओं में वृद्धावस्था की बेचारगी, दयनीयता और अवहेलना को भिन्न-भिन्न रंगों से रंगा है। देर तलक दिल पर दस्तक देती 'गुड़िया' व्यथित करती है। एक कथा के अंदर दूसरी कथा को समाहित कर एक सम्मोहक अन्त तक पहुँचती है यह लघुकथा। 'तृप्ति' अलहदा कलेवर में उतरती है। वृद्ध किरदार भी थोड़ा-सा दबंग हो चला है। भूखा वृद्ध क्षुधापूर्ति के लिए अपने बेटे का सोशल स्टेट्स नहीं देखता और भिखारियों की पंगत में जा बैठता है। कितनी अतृप्ति

रही होगी उसके भीतरष्ठ कमाल की बयानगी- 'मैं तो थोड़ा सुस्ताने को मंदिर की सीढ़ियों पर बैठ गया था। लोग खीर, पूरी, आलू की सब्जी, केले देते चले गए। मैं तो परसाद समझ खाता रहाष्ठ मुझे तो पता ही नहीं चला कि मेरे इर्दगिर्द भिखारी बैठे हैं या कोई औरष्ठ'। यह वाक्य पूरी लघुकथा का मंतव्य व्यक्त कर देता है। इस तरह के व्यंजनापरक वाक्य कमोबेश हर लघुकथा में हैं। 'तिड़के घड़े' कहानी का कैनवस समेटे एक शानदार लघुकथा है जो सदा के लिए मानस पटल पर अंकित हो जाती है। जबरदस्त शिल्प के चलते यह रचना लघुकथा-जगत में तहलका मचा देती है। अविस्मरणीय शिल्प से लघुकथा की ऊँचाइयों तक पहुँचती है, पाठक के मन में द्वंद मचाकर करुणा का मार्मिक रस उपजाती है। यह चंद अतिश्रेष्ठ लघुकथाओं में स्थान पाती है। इसमें 'गुड़ुप' शब्द का बड़ी खूबसूरती के साथ बार बार प्रयोग हुआ है जो बूढ़ों की निरीहता का प्रतीक बनकर उभरा है। 'दर्द' में एक अकेले वृद्ध के दर्द को जिस अदभुत शैली में बयान किया गया है, वह देखते बनता है।

'जानवर' लघुकथा में लेखक इंसानी संवेगों की गहन पड़ताल करता हुआ उचित मुकाम तक पहुँचता है। खूबसूरत वाक्य-विन्यास- 'अंधेरा धीरे-धीरे उजाले को लील रहा था। फिर दूर क्षितिज में थका-हारा सूर्य समुद्र में डूब गया।' 'बरफ़ी' में यौन पिपासा को शांत करने हेतु बाज़ार में उतारे गए तरीकों को कोड-वर्ड दिए हैं। प्रतीकात्मक शैली में बुनी इस लघुकथा की खुलकर

तारीफ़ करनी होगी। स्त्री-पुरुष संबंधों पर रची लघुकथा 'डूबते को किनारा' सकारात्मक अंत लिए बताती है कि रिश्ते भी बचे रहें, बात भी रह जाए। 'मैं फिर खुद को एक उफ़नती नदी से घिरा पाता हूँ।' जैसे खूबसूरत वाक्य दिल को छूते हैं।

'इंसानी रंग', 'एक और कस्बा', 'डर' आदि लघुकथाएं सांप्रदायिकता के खिलाफ़ जंग छेड़ती हैं। 'एक और कस्बा' खुशुमा सुबह से शुरु होकर डरावनी शाम लेकर खत्म होती है। 'डर' लघुकथा पुराने किन्तु कभी न खत्म होने वाले विषय पर नया तराना छेड़ती है। सद्भाव का शंख फूँकती है। कुछ शब्द यथा ठिकाने, अशरफ, कफ़र्यू... माहौल खराब है आदि समूची लघुकथा का मुकम्मल पता देते हैं।

'खूबसूरत डायन और उसकी हँसी' लघुकथा में जुदा और नवीन विषय लिए मानवीय भावों का कलात्मक चित्रण है। वहीं 'वेश्या नहीं' पूरी कहानी का प्लॉट छुपाए बढ़िया लघुकथा है। 'मरना-जीना' में सकारात्मक लेखन के धनी लेखक ने रोज-रोज की किचकिच से तंग पत्नी के आत्महत्या के प्रयास का सुंदर वर्णन तो किया ही है, साथ ही यह भी बताया है कि जीवन अभी और भी है। इसके शीर्षक के साथ थोड़ा समय यदि और बिताया होता तो यह भी अन्य लघुकथा शीर्षकों के सम बिंदास और अलबेला होता।

'बीमारी', 'चोर', 'अकेला चना', 'चन्द्रनाथ की नियुक्ति' में अफ़सरशाही पर करारा व्यंग है। 'मकड़ी' में बाज़ार के शिकंजे में गर्दन फंसाये मनुष्य की त्रासदीपूर्ण बयानगी है। 'मुस्कराहट', 'सफ़र में आदमी', 'बीमार', 'दिहाड़ी' में आम आदमी की आम-सी जिन्दगी का रोजनामचा है। 'बीमार' एक बेहद चर्चित, बेलौस लघुकथा है। बालमन और गरीब पिता के मन का दिल चीर देने वाला चिन्दी-चिन्दी वर्णन कातिल शिल्प से रचा है। 'धूप' लघुकथा समृद्ध भाषा का प्रमाण है। 'धूप' में बैठे लोगों की नाअसर प्रतिक्रिया, नींद का खुलना, बाहर जाना, लोगों के बीच बैठना, पुनः आना, सुखद लगना आदि मनोवैज्ञानिक कहानी का आस्वाद देती बहुत पहले सृजित किन्तु सदा नवीनता का ज़ायका देती उम्दा लघुकथा

है।

लघुकथा का कथ्य, कहन, शिल्प का वैशिष्ट्य, सुघड़ता, कथ्य का आवरण, कमल दल की नाईं हौले-हौले खुलनाष्ट लेखक को सिरमोर लेखक की पंक्ति में स्थान देता है। देखिए बिम्बात्मक वाक्य संरचना- 'तकलीफ़ों की अंधी सुरंग के बीच से घिसटते हुए बाहर निकलने की कोशिश', 'दिनों को खींच खींच कर' आदि अनेक वाक्य अपनी संरचना में बरबस ही मोहते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों की रग-रग पर लेखन की पैनी धार है। पढ़ते हुए लगता है कोई कहानी चल पड़ी है और अपनी अब्दुत बयानगी में लघुकथा 'ठक्क' से अपने पूरे होने का अहसास कराती है। पाठक के ज़हन में खलबली मचा करवटें बदलती है। यह मंज़ी हुई भाषा, अब्दुत शिल्प, किरदारों के उम्दा संवाद, हर अल्पविराम, विराम के साथ न्याय करते हैं।

इन लघुकथाओं में प्रकृति अपने रूप रंग में थिरकती नज़र आती है। कहनपूर्ण शिल्प सौंदर्य से पाठक को विस्मित कर देती है लघुकथाएँ। ऐसी लघुकथाओं के लिए 'दिल माँगे मोर' की बात खुले आम बयां हो जाती है। सुभाष नीरव का यह लघुकथा संग्रह अपने समय और समाज को अपने विशिष्ट कथ्य और भाषा सौंदर्य के साथ बयां करता है।

यह संग्रह निःसंदेह अपनी बारिश में पाठकों को भीतर तक भिगोने की शक्ति और क्षमता रखता है।

-- शोभा रस्तोगी

(९६५०२६७२७७)

बारिश तथा अन्य लघुकथाएँ (सुभाष नीरव)

प्रकाशन वर्ष : २०१९

किताबगंज प्रकाशन,

आई सी एस(रेमण्ड शोरूम), राधाकृष्ण मार्केट
गंगापुर सिटी, राजस्थान

पृष्ठ : १२०, मूल्य : १९५ रुपये (पेपर बैक),

३९५ रुपये(हार्ड कवर)